देहानुभूति

(भाग - 1)

आज मैं सद्‌गुरु-कृपा एवं आप सब परम जिज्ञासुओं की जिज्ञासावश, सरलतम परन्तु विशिष्ट रूप से कठिनतम विषय प्रारम्भ कर रहा हूँ। यह आत्मज्ञान का स्रोत एवं प्रथम सोपान है; विषय है–**'देहानुभूति'**। आपने आत्मानुभूति और ब्रह्मानुभूति के विषय में सुना होगा। जितना जप-तप, सद्‌गुरु-सेवा, यज्ञ-हवन, दान-पुण्य, प्राणायाम-प्रत्याहार, ध्यान-समाधि, तीर्थ-यात्रा, भजन-कीर्तन आदि होता है, वह देह द्वारा और देह की सहायता से ही होता है। जीवात्मा, देह से ही जन्मों-जन्मान्तरों के कालचक्र में फँसा है और देह से ही बाहर आएगा।

मानव-देह की अनुभूति के बिना इसका सदुपयोग तो क्या उपयोग भी नहीं हो सकता; जो होगा वह दुरुपयोग ही होगा। शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक तीन प्रकार की शक्तियों से सुसज्जित यह देह हमें Duty free, Tax free and Maintenance free मिली है। इसकी शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियाँ सीमित हैं, लेकिन मानसिक शक्ति वह असीम आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके द्वारा हम उस असीम (पारब्रह्म परमेश्वर) की अनुभूति कर सकते हैं। इसलिए ब्रह्मानुभूति और आत्मानुभूति से पहले इस देह की अनुभूति आवश्यक है। जब तक देह की अपनी वास्तविकताओं की Realisation नहीं होगी, तब तक यह देह ही हमें Misguide करेगी। अनुभूत (Realised) देह ही मुझे (जीवात्मा को) Miss करती हुई Guide करेगी; यह दैवीय कानून है।

एक मानव-देह ईश्वर की समस्त माया अथवा प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती है। समस्त जड़-चेतन जगत (जलचर, नभचर, थलचर), सृष्टि के समस्त रंग, डिज़ाइन तथा बहुमूल्य तत्त्वों का सूक्ष्म प्रतिनिधित्व एक मानव-देह में है। आकाश के ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र, तारागण, वायुमण्डल की गैसें, जल के विभिन्न तत्त्व, पृथ्वी की समस्त धातुएँ-अधातुएँ एक मानव-देह में हैं। पेड़-पौधों एवं वनस्पतियों के डिज़ाइन व आकार-प्रकार देह के किसी न किसी अंग-प्रत्यंग या अवयव में हैं। **जिस प्रकार जीवात्मा ('मैं') ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है, उसी प्रकार सम्पूर्ण साकार महाब्रह्माण्ड की प्रतिनिधि एक मानव-देह है।**

कोई भी विधा, सद्गुण-अवगुण, प्रतिष्ठा, योजना-परियोजना, विचार, कला अथवा कुछ भी हो, उसका आधार उसकी Reality होती है। सत्य की Reality है, तो झूठ की भी अपनी Reality है। ज्ञान की Reality है, तो अज्ञान की भी अपनी Reality है। Reality वास्तव में नींव है। अक्सर किसी भी पदार्थ या वस्तु तथा व्यक्ति या प्राणी की वास्तविकता बाह्य चक्षुओं से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती। किसी भी पेड़ की वास्तविकता उसका मूल है। किसी भवन की प्रतिष्ठा, दृढ़ता, Durability, अपरिहार्य परिस्थितियों में उसके काल आदि का अनुमान उसकी नींव से लगाया जाता है, जो अदृश्य होते हुए भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। नींव भूमिगत है, जो खोदनी पड़ती है।

ईश्वरीय प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है, कि वास्तविकताएँ छिपी हुईं हैं। वास्तविकताओं पर आधारित व्यक्ति, भवन, प्राणी दृश्यमान होता है, लेकिन उसकी वास्तविकताओं को खोजना पड़ता है। इसी प्रकार हमारी देह सहित सम्पूर्ण दृश्यमान महाब्रह्माण्ड को देखा, सुना, सूंघा, चखा व स्पर्श किया जा सकता है, लेकिन इसकी वास्तविकता अदृश्य व आच्छादित है। इसकी वास्तविकताओं की जान्यताओं एवं मान्यताओं की सिद्धि को Realisation या अनुभूति कहते हैं। किसी भी देह अथवा व्यक्ति की वास्तविकताओं को जानने के लिए गहरे तल में उतरना पड़ता है। जानने व

मानने के बाद सद्गुरु-कृपा से उसका चिन्तन-मनन स्वयं में अनुभूति (Realisation) बन जाता है। अनुभूति धरोहर होकर चेतना का अविभाज्य अंग बन जाती है। इसे **'आत्मानुभूति'** कहते हैं। यदि हम अपनी देह व संसार का आनन्दपूर्वक भोग करना चाहते हैं, तो हमें अपनी एक देह की वास्तविकताओं की अनुभूति करना आवश्यक है। इस एक देह की अवचेतना में ही हमारी अपनी नाम-रूप की देह सहित जगत प्रकट होता है और अवचेतना न रहने पर लय हो जाता है।

संसार क्या है? जो मैं सोच, देख, सुन, चख, सूंघ और स्पर्श कर रहा हूँ, वह मेरा संसार है। संसार की कुल प्रस्तुति व अधिग्रहण और पुनः प्रस्तुतिकरण व अधिग्रहण मेरे (जीवात्मा के) ऊपर आधारित है। देह के रूप में मैं होता हूँ, तो संसार भी होता है। यह संसार की वास्तविकता है। यदि मुझे संसार की वास्तविकता जाननी है, तो अपनी वास्तविकता जाननी होगी। यदि मैं स्वयं अपनी अनुभूति कर लूँ, तो स्वतः ही मुझे अपनी देह सहित संसार की अनुभूति भी हो जाएगी। क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) यदि देह हूँ, तो देह सहित जगत अथवा जगत सहित देह भी मैं ही हूँ। मेरी देह पंच-महाभूतों व सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के समस्त प्रपंच की एकमात्र प्रतिनिधि और संघनित स्वरूप है। यह मेरी देह की वास्तविकता है और मेरी (जीवात्मा की) वास्तविकता यह है, कि जो विशुद्ध **'मैं'** हूँ उस स्वरूप में न मैं देह हूँ और न मैं जगत हूँ। यह **'मैं'** (जीवात्मा) की Reality है। **'तू'** परमात्मा है। **'मैं'** (जीवात्मा) का अस्तित्व **'तू'** से है और **'तू' स्वयंभू** है ही।

देह-चिन्तन, आत्म-चिन्तन और ब्रह्म-चिन्तन का फल क्रमशः देहानुभूति, आत्मानुभूति और ब्रह्मानुभूति है। सर्वप्रथम देह क्या है? देह के साथ जगत भी है, इसलिए देह का चिन्तन संसार सहित होता है। **जीवात्मा** है, तो देह सहित जगत है और इसके बिना भी जीवात्मा है, क्योंकि जीवात्मा का अस्तित्व **'तू'** (परमात्मा) से है, देह व जगत से नहीं है। लेकिन जीवात्मा का प्रकाट्य **'मैं'** शब्द में देह की अवचेतना में होता है। इसीलिए **'मैं'**

(जीवात्मा) हूँ, तो देह है और देह, जगत सहित है। यह देह के रूप में मेरी व्यष्टि में समष्टि है।

बाह्य चक्षुओं से वास्तविकता नज़र नहीं आती, जो नज़र आता है वह वास्तविकता नहीं होती। वास्तविकताएँ दिखाई नहीं देतीं, इसलिए उन्हें देखने, जानने व मानने के लिए आँखें मूंदनी पड़ती हैं। **वास्तविकता अनुभूतिगम्य है और वास्तविकता की अनुभूति है।** यदि वास्तविकता की जान्यता और मान्यता होगी, तो जिसकी वह वास्तविकता है, उसका चिन्तन प्रारम्भ हो जाएगा और चिन्ताएँ समाप्त हो जाएँगी। सद्गुरु के निर्देशन में देह द्वारा हुआ कोई भी प्रकरण जो देहातीत ले जाए, वह समाधि है। देह द्वारा देह छूट जाए, फिर उस छूटी हुई देह के साथ रहना **'छुटकारा'** है। फिर हम संसार में रहते हैं, संसार हममें कभी नहीं रहता।

किसी वस्तु, व्यक्ति, प्रकरण, उपकरण अथवा इनसे सम्बन्धित किसी भी विधा का आनन्दपूर्वक भोग (Utilisation) करने के लिए उसे Realise करना होता है। बिना Realise किए यदि हम उसे Use करेंगे, तो हम उसका Misuse करेंगे और वह वस्तु या व्यक्ति हमें Misguide करेगा। वास्तविकताओं के जानने व मानने के बिना हुई तथाकथित Realisation भी वास्तविकता रहित (Fake) होगी। किसी पेड़-पौधे की वास्तविकता उसके तने, पत्ते, फूल-फल, शाखाएँ आदि नहीं हैं, बल्कि उसकी जड़ या मूल है। आंधी-तूफान या हवाओं के तेज़ झोंकों को कोई पेड़ सहन करके कितना अडिग व स्थिर रह सकता है, यह उसकी जड़ की गहराई व सुदृढ़ता पर निर्भर करता है :—

''मसला जब भी उठा चिरागों का, फैसला सिर्फ हवा करती है।''

मानव-देह की जान्यता, मान्यता और अनुभूति के लिए इसकी पंच-पाद वास्तविकताएँ या नींव हैं, जो युगों-युगान्तरों से सद् हैं और रहेंगी:—

1. मानव-देह समस्त प्राणी-जगत में सर्वोत्कृष्ट एवं ईश्वर की सर्वोत्तम, विशेष रूप से चमत्कारिक एवं परम रहस्यमय संरचना है।

2. यह देह सतत् व अविरल परिवर्तनशील है।
3. यह देह नश्वर है।
4. यह हमारे लिए अनिश्चित एवं गुप्त, सुनिश्चित अवधि से बँधी हुई है।
5. इसका अन्तांत **'भस्मी'** है, जो इसका निश्चित, दर्शित व परिलक्षित भविष्य है।

परमात्मा की इकलौती सन्तान जीवात्मा (**मैं**) अपने पिता की नाईं सच्चिदानंद, छः विभूतियों से विभूषित, देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, त्रिगुणमयी माया के तीनों गुणों से अतीत और ब्रह्माण्डातीत है। दूसरी ओर उसे दी गई मानव-देह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में उस परमपिता परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट, विलक्षण, दिव्यतम, परम रहस्यमयी, चमत्कारिक, भव्यतम, असमान्तर, अतुलनीय एवं अनुपम संरचना है। महादुर्भाग्यवश जीवात्मा और मानव-देह का युग्म एक दुर्घटना बन गया। मानव-देह वास्तव में जीवात्मा के लिए थी, लेकिन भ्रमवश, मायावश, अज्ञानवश यह इसको अपनी मान बैठा। जिस प्रकार दो गाड़ियों के टकराने से हुई दुर्घटना में दोनों गाड़ियों का नुकसान होता है, उसी प्रकार जीवात्मा और मानव-देह के युग्म से हुई दुर्घटना में **'जीवात्मा'** अपना स्वरूप एवं **मानव-देह** अपनी परम उत्कृष्टता खो बैठी।

इस दुर्घटना के कारण जीवात्मा ने देह पर अधिपत्य (देहाधिपत्य) कर लिया, कि देह मेरी है और इसे देह के साथ अध्यास (देहाध्यास) हो गया, कि मैं देह हूँ। देहाध्यास की पुष्टि का नाम तद्‌रूपता है। जन्मों-जन्मान्तरों में यह तद्‌रूपता परिपुष्ट होकर इसकी देह धारणा बन गई। दुर्घटना के कारण हुई देह के साथ तद्‌रूपता में चेतन जीवात्मा अपने शाश्वत्, सद्-चेतन व आनन्द ईश्वरीय स्वरूप से पतित एवं विमुख होकर अवचेतना में आ गया। चेतना से अवचेतना में आते ही इसका 'आनन्द' दुःखों-सुखों में परिवर्तित हो गया। 'सद्', असद् (सत्य-असत्य) बन गया। यह स्थिर से अस्थिर एवं विरक्त के स्थान पर आसक्त हो गया। विरक्ति के आसक्ति

बनने पर विरक्ति से प्रस्फुटित इसकी पाँचों विभूतियाँ, पाँच विकृतियों में रूपान्तरित हो गईं। सौन्दर्य, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और ज्ञान विभूतियाँ क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह व अंहकार के रूप में विकृतियाँ बन गईं। पाँचों **विभूतियों** का मूल **विरक्ति** था और इन पाँचों **विकृतियों** का मूल **आसक्ति** हुआ।

देह के साथ तादात्म्य के कारण उत्पन्न आसक्ति से प्रस्फुटित पाँच विकारों से सोलह एषणाएँ पैदा हुईं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, प्रीतैषणा, मीतैषणा, छलैषणा, बलैषणा, प्रसारैषणा, विस्तारैषणा, नाशैषणा, हासैषणा, कामैषणा, धामैषणा, नामैषणा, राजैषणा, काजैषणा और साजैषणा। विरक्ति से चार 'सद्' एषणाएँ पैदा होती हैं—इष्टैषणा, अभीष्टैषणा, ज्ञानैषणा और ध्यानैषणा। सद्गुरु-कृपा से ये चार सद् एषणाएँ सोलह पर हावी होकर उन्हें नष्ट कर देती हैं। सोलह एषणाओं में एक एषणा की पूर्ति से हज़ार अन्य एषणाएँ पैदा हो जाती हैं। अतः सोलह की सोलह हज़ार बन जाती हैं। इनमें से एक की पूर्ति भी वस्तुतः इच्छा-अधूर्ति ही रहती है। **'मैं'** (जीवात्मा) जीवन में क्या-क्या चाहता हूँ; ये चाहतें प्रमुखतः सोलह हैं, जो पूरी होकर भी और-और बढ़ती रहती हैं। इनका कोई अन्त नहीं है।

हम अपने हर वर्तमान में भूत के शोक और भविष्य की चिन्ताओं से इतने बोझिल रहते हैं, कि देह-चिन्तन नहीं कर पाते। **चिन्तनरत देह को चिन्ता नहीं हो सकती और चिन्ताग्रस्त देह, चिन्तन नहीं कर सकती।** जहाँ चाहत होती है, वहाँ चिन्ता होती है। चिन्ता के साथ वैर-वैमनस्य, आधि-व्याधि-उपाधि, भय, त्रास, मल, विक्षेप, आवरण भी होते हैं। इनसे ग्रसित हम मानव जीवन-दर-जीवन अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ एवं अनर्थ में भटकते रहते हैं।

जन्मों-जन्मान्तरों से भटकता हुआ स्वयं में अतृप्त व असन्तुष्ट जीव जब सद्गुरु के दरबार में पहुँचता है, तो **सद्गुरु उसे केवल एक और एक ही निर्देशन देता है, कि ''तू अपनी मानव-देह का सदुपयोग कर।** विकृत और दिशा भ्रष्ट देह का सदुपयोग नहीं हो सकता। इसलिए पहले तू देह के

सद् या वास्तविकताओं को जान, मान एवं उनका चिन्तन कर। यदि तू दुःख, रोग, शोक, आधि-व्याधि-उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण के जंजाल से बाहर आना चाहता है, तो जिस देह के साथ तूने तद्‌रूपता की है, उसके साथ पूर्णरूप में तद्‌रूपता कर। क्योंकि तद्‌रूपता परिपुष्ट होकर तेरी धारणा बन चुकी है, इसलिए तेरी यह तद्‌रूपता छूट नहीं सकती। अतः तू इस देह धारणा की परिपुष्टि की पूर्ण परिपुष्टि करते हुए सदुपयोग कर। देह के साथ अधिपत्य व अध्यास की परिपुष्टि में हुई तेरी तद्‌रूपता अधूरी है। तू देह की हर स्थिति के साथ तद्‌रूप होता है। तूने दूसरों को जन्मते, मरते देखकर अपना जन्म और मृत्यु भी मान लिए। मैं माँ के गर्भ में था, मैं पैदा हुआ था, मैं मरूँगा, परन्तु तूने देह का एक परिवर्तन छोड़ दिया। जब तू मरेगा तो उसके बाद भस्मी भी तो बनेगा। जब तू सोया, तो तू सोया हुआ था, मूर्च्छित हुआ, तो मूर्च्छित था, जब मरेगा, तो मरा हुआ होगा। इसके बाद तेरी देह भस्मी बन जाएगी, उस भस्मी के साथ तूने अधिपत्य व अध्यास क्यों नहीं किया? उसके साथ तूने तद्‌रूपता नहीं की और उसके साथ तूने धारणा नहीं की। इसलिए तेरी देह के साथ तद्‌रूपता, धारणा, अधिपत्य व अध्यास सब अधूरा है।''

चिन्ताग्रस्त रहते हुए जब हम जीवन-दर-जीवन ढोते रहते हैं, तो सद्‌गुरु-कृपा से किसी जीवन में ऐसा पड़ाव आता है, कि जीव यह सोचने पर विवश हो जाता है, कि इस सबका अर्थ क्या है? जीवन में इतना कुछ पाया-खोया, इतना कुछ हुआ, लेकिन वास्तव में जीवन से मैं आखिर चाहता क्या हूँ? जीवन में किसी भी कार्य, योजना, विचार, व्यापार का हम अन्तिम परिणाम देखते हैं। Balance Sheet के निश्चित परिणाम से हमें व्यापार के लाभ-हानि का मालूम चलता है। प्रारम्भ में हम लाभ की कल्पना करके विचार करते हैं और उसी के अनुसार उसके लिए संघर्ष करते हैं और अन्त में परिणाम आता है। परिणाम से ही उस व्यापार, विचार, योजना-परियोजना की गुणात्मकता का निर्णय होता है। The total 'income' of the project lies in the outcome of the project.

What comes out in the end is 'income'. Therefore 'outcome' is 'income'.

हम मानव, जीवन के मध्य में इसलिए उलझ गए, क्योंकि हमने जीवन के अन्त और अन्तान्त (अन्त का अन्त) के बारे में सोचा ही नहीं। Outcome क्या होगा, जो Income होगी। income का अनुमान (Assessment) outcome से होता है। Income में Outcome की पहले assumption की जाती है। पहले इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मानव-देह की विलक्षणता है, कि यह निश्चित अवधि से बँधी है। इसका अन्तान्त अथवा outcome ईश्वर ने हमें प्रत्यक्ष दिखाया है। सम्पूर्ण जीवन का outcome निश्चित, दर्शित, परिलक्षित है। अर्थ (जीवन में भविष्य) income है अर्थार्थ (जीवन का भविष्य) outcome है। अर्थार्थ ही अर्थ का निर्धारण करेगा। We are all the time busy in incomes of various sorts and they are uncertain. उसके बावजूद हम अनेक प्रकार से income के लिए संघर्षरत रहते हैं। देह का सबसे बड़ा रहस्य यह है, कि कुल जीवन का outcome दर्शित, परिलक्षित व निश्चित है। सबका अन्तान्त एक ही है। मानवेतर प्राणी-जगत इसके बारे में जान ही नहीं सकता।

पंच-तत्त्वों से निर्मित, पालित देह के देहान्त के बाद पंच-तत्त्वों में विलीन होने पर जो शेष रहता है, वह अवशेष **भस्मी** है। जीवन में हमारा अपना लगाया हुआ अर्थ और अन्य जो भी अर्थ (जीवन में भविष्य) हैं, उनका अर्थार्थ (जीवन का भविष्य) सुनिश्चित है। मानव-देह हमारे लिए अनिश्चित एवं गुप्त अवधि से बँधी हुई है, लेकिन अवधि समाप्त होने पर क्या होगा, यह सबको पता है। अवधि हमारे लिए किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। अर्थार्थ पर दृष्टि डालने से ज्ञान होगा, कि जीवन हमारा नहीं है। हमें स्वयं इसका अर्थ लगाने का कोई अधिकार नहीं है। Income के दौरान outcome की assumption होगी और outcome होने पर income सुनिश्चित हो जाएगी। जीवन **में** प्राप्तियाँ मेरे (जीवात्मा के) लिए outcome नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे सब मुझे छोड़नी पड़ेंगी। वस्तुओं को प्राप्त करने अथवा

खोने के बाद जो मैंने पाया, वही मेरा outcome है। **महापुरुषों का अभीष्ट कोई प्राप्ति नहीं होती, बल्कि प्राप्ति अथवा खोने के बाद की आनन्दमय मानसिक स्थिति उनका अभीष्ट होती है।**

किसी भी प्राप्ति अथवा खोने के बाद की मानसिक स्थिति स्वप्न-सृष्टि पर एकाग्र करने पर स्पष्ट हो जाती है। अच्छे या बुरे दोनों स्वप्नों से उठने के बाद मानसिक स्थिति में चिन्ता रहती है। अच्छा स्वप्न आया, तो जागृति में उसके कुछ नहीं रहने का मानस में अवसाद सा होता है और बुरे स्वप्न का वास्तव में बुरे प्रभाव की आशंका का भय सा रहता है। यदि मुझे स्वप्न के दौरान ज्ञान हो जाए, कि जब यह टूटेगा, तो इसका कोई प्राणी, वस्तु या इनसे सम्बन्धित कोई भी विधा शेष नहीं रहेगी, तो मैं स्वप्न के दौरान कुछ लाभ-हानि के बाद की मानसिक स्थिति पर ही एकाग्र करता। जिस प्रकार एक स्वप्न का जब अन्त होता है, तो उस स्वप्न-सृष्टि का कुछ नहीं रहता। न स्वप्न वाला मैं रहता हूँ, न वह जगत रहता है। न वह स्थान, स्थिति और समय रहता है, न वे पदार्थ रहते हैं और न स्वप्न में हुई लाभ-हानि रहती है। केवल एक मानसिकता में वह स्वप्न-सृष्टि समाप्त हो जाती है। उस सम्पूर्ण स्वप्न का प्राकट्य भी निद्रा की Nothingness वाली स्थिति से हुआ था।

जीवात्मा जब साकार से निराकार में जाता है, तो स्वप्न-सृष्टि का प्राकट्य होता है। स्वप्न Nothingness में ही चलता है और Nothingness में ही समाहित हो जाता है। जिस Nothingness में वह स्वप्न-सृष्टि समाहित हुई, उसमें लाभ-हानि, मिलन-बिछुड़न, सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, प्रेम-घृणा, जन्म-मृत्यु की मानसिकता रहती है। जिसे हम देह-धारणा कहते हैं, वह जगत सहित देह-धारणा है। जब हम नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता की अवचेतना में आते हैं, तो हमारी एक देह नहीं, जगत सहित देह होती है। उस समय जो विशिष्ट मानसिकता है, उसके अनुसार जीवात्मा, जगत सहित देह में विचरती है। नाम-रूप की व्यष्टि देह, जगत सहित देह का आधार है। ज्ञात व अज्ञात रूप से नाम-रूप की देह की अवचेतना में आते ही तुरन्त उस समय की मानसिकता के अनुसार देह सहित जगत

प्रकट होता है। एक व्यक्ति के रूप में जब मैं नाम-रूप की देह की अवचेतना में आता हूँ, तो मैं स्वयं में समस्त समष्टि होता हूँ My individuality embraces my total totality. मेरा समस्त अतीत, उस समय का जगत, भविष्य की योजनाएँ, परियोजनाएँ, मेरी मान्यताएँ, धारणाएँ, ख्वाब, ख्याल आदि, जिन्हें मैं मान्यता देता हूँ, मेरी समष्टि है।

दो व्यक्ति एक ही बाह्य परिस्थिति, स्थान व समय में नींद से उठे हैं, लेकिन दोनों की मानसिकताएँ एक नहीं हो सकतीं। 84 लाख योनियाँ या चैनल हैं, ये देह की 84 लाख मायिक विधाएँ हैं। हर मायिक विधा में देह सहित जगत का प्राकाट्य एक साथ होता है। एक विशिष्ट समय में उस चैनल या मायिक विधाओं में मानसिक प्रकाट्य जो देह है, वह देह सहित जगत का आधार है। गहन सुषुप्ति में जीवात्मा, साकार देह सहित जगत की अवचेतना में नहीं होता। इस निराकार स्थिति में उसके लिए न कोई देह है न जगत है। निद्रा के दौरान उसे अपनी सुषुप्ति या Nothingness की अनुभूति नहीं है। उस Nothingness की स्थिति से स्वप्न प्रकट होता है। स्वप्न-सृष्टि में जो देह व जगत प्रकट होता है, उस देह को भी Nothingness की अनुभूति नहीं है। निद्रा से तथाकथित जाग्रत होकर अन्य देह के सान्निध्य में वह स्वप्न का बयान करता है, लेकिन अपनी निद्रा की Nothingness की उपेक्षा कर देता है। अतः Nothingness की अनुभूति जीवात्मा के तीनों रूपों को नहीं है।

यहाँ जीवात्मा (**मैं**) की देह के तीन रूप हैं। सोई हुई देह None in all है, लेकिन उसे नहीं पता, कि न वह देह है न जगत है। स्वप्न वाली देह One out of all है, लेकिन उसे यह ज्ञान नहीं है, कि वह उस Nothingness से प्रकट हुई है, जहाँ न देह है न जगत है। तथाकथित जाग्रत देह जो स्वप्न का वर्णन कर रही है, उसे यह ज्ञात है कि स्वप्न सुषुप्ति में आया था, लेकिन वह भी निद्रा को उपेक्षित करता है। अतः Nothingness की मानसिकता को मेरे (जीवात्मा के) तीनों रूपों ने न देखा, न जाना और न अनुभव किया, बल्कि उपेक्षित किया। सारा रहस्य उस Nothingness में छिपा हुआ है।

निद्रा में मेरे लिए देह व जगत नहीं रहता, लेकिन मैं होता हूँ। यदि मैं उसे किसी तरह देख लूँ, तो वह समाधि होगी। ध्यान में जब मैं देह सहित जगत से परे हो जाता हूँ, वह ध्यान मेरी Awareness है। Consciousness या अवचेतना में जीवात्मा **(मैं)** स्वयं को हमेशा देह सहित जगत के साथ ही पाता है। चेतना में जीवात्मा को देह सहित जगत का आभास नहीं होता, लेकिन अपने होने का आभास होता है। वही मेरा आनन्द स्वरूप है। देह के बिना जगत नहीं होता और जगत के बिना देह नहीं होती। जगत तब होगा जब देह होगी और जब जगत होगा तब देह होगी ही। चाहे कुछ हो न हो, मेरा ख्याल या विचार भी उस समय के जगत की एक विधा है।

जीवात्मा को देह-धारणा जन्मों-जन्मान्तरों से है। इस धारणा का छूटना बहुत ही कठिन है, क्योंकि जीवात्मा की धारणा है। जीवन के जन्म और मृत्यु दोनों छोरों को इनकी दिशाओं में आगे बढ़ाकर मैंने इष्ट-कृपा से आत्मानुभूति के आधार पर सम्पूर्ण मानव-जीवन के पाँच मुख्य खण्ड किए थे। पहला **प्रारम्भारम्भ** (देह के गर्भाधान) से जन्म तक, दूसरा **जन्म से होश सम्भालने तक,** तीसरा **होश सम्भालने से होश गुम होने तक** अथवा मृत्यु (अन्त) तक, चौथा **होश गुम होने अथवा मृत्यु से चिता** अथवा कब्र में पहुँचाने तक और पाँचवाँ **चिता में मुखाग्नि देने से पंच-महाभूतों में विलय होकर भस्मी (अन्तान्त) बनने तक।** मात्र अन्तान्त ऐसा खण्ड है, जो देहातीत एवं साकार देह सहित जगत की समस्त विधाओं से अतीत है।

अन्तान्त, देह के अन्त का अन्त है। अन्त (मृत्यु) निश्चित और दर्शित है, लेकिन अन्तान्त निश्चित, दर्शित के साथ परिलक्षित भी है। ईश्वर ने मानव के सम्मुख यह विशेष चमत्कारिक प्रकरण रखा है। जन्म-मृत्यु तो जलचर, नभचर, थलचर सभी प्राणियों के होते हैं। मानव को भी जन्म-मृत्यु की धारणा है। पशु भी अपनी मृत्यु से डरते हैं और ईश्वर प्रदत्त प्रकृति के अनुसार अपनी सुरक्षा एवं रख-रखाव के उपाय एवं प्रयत्न करते हैं। लेकिन अन्तान्त का ज्ञान मानवेतर प्राणी जगत को नहीं है। मानव ही सोच सकता है, कि पंच-महाभूतों की देह किसी भी समय पंच-महाभूतों में विलीन हो

जाएगी, क्योंकि जीवन की निश्चित अवधि उसके लिए अनिश्चित है। देह **का** निश्चित, दर्शित अन्त मृत्यु है और इस अन्त का अन्त (अन्तान्त) परिलक्षित है, जो देह का होने के बावजूद देहातीत है।

जन्म से मृत्यु तक देह, समय की तीन विधाओं (भूत, भविष्य एवं वर्तमान) से बँधी है। जीवन के समस्त काल का निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य अन्तान्त है। अन्तान्त में देह भस्मी बनकर काल की तीनों विधाओं से छूट जाती है। अतः अन्तान्त न केवल देहातीत है, बल्कि कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत और माया के तीनों गुणों से अतीत भी है। **'भस्मी'** रूप में देह का अन्तान्त देह का होते हुए भी देह सहित जगत की सभी विधाओं से परे है।

हम संसारी व्यक्ति जीवन में income में इतने व्यस्त हो जाते हैं, कि हमारी समस्त एकाग्रता अपने तथाकथित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हो जाती है। उसमें जो परिलक्षित (लक्ष्य पर लक्ष्य) है, उसे भूल जाते हैं। यदि परिलक्षित को हम लक्ष्य बना लें, तो जीवन **में** विभिन्न छोटे-छोटे लक्ष्य परे हट जाते हैं। जीवन **में** विभिन्न लक्ष्य असंख्य हैं और जीवन का परिलक्षित लक्ष्य एक ही है–**'भस्मी'**। यही जीवन का अर्थार्थ और outcome है। **इस निश्चित को सुनिश्चित करते हुए परिलक्षित को लक्ष्य बनाकर उस दर्शित को दृश्य बना लें, यही मानव-देह में मानवीय कर्म है।** हम देह-धारणा के कारण जन्मों-जन्मान्तरों से भटक रहे हैं। जीवन-काल में देह की भस्मी की अवधारणा देह-धारणा का मूलोच्छेदन कर देती है।

जो इस जन्म का अन्तान्त है, वही सब जन्मों का अन्तान्त है। अगले जन्मों में यदि मुझे कुछ और भी मिलेगा, उसका भी अन्ततः यही परिणाम होगा। उस स्थाई अन्तान्त की अवधारणा को इसी जन्म में जीवन के दौरान उतार लूँ, तो मेरी देह-धारणा टूट जाएगी। सर्वप्रथम हमारा वर्तमान टूटेगा। देह-धारणा में हमारा वर्तमान असंख्य जन्मों के शोक (भूत) तथा चिन्ताओं (भविष्यों) का भार वहन कर सकता है, लेकिन एक जन्म की देह के अन्तान्त (भस्मी) की अवधारणा का भार वहन नहीं कर सकता। वर्तमान के टूटते ही

देह-धारणा चरमरा जाएगी। शोक और चिन्ताओं का आधार देह-धारणा ही है, जो हर वर्तमान को बोझिल रखती है। देहाध्यास की पुष्टि में हुई तद्‌रूपता की परिपुष्टि से हुई देह-धारणा, देह की भस्मी की अवधारणा से टूट जाएगी और फिर अवधारणा, धारणा बन जाएगी, कि 'मैं भस्मी हूँ, भस्मी मेरी है।'

असंख्य काल्पनिक देहों में, जो थीं और होंगी, उनमें धारणा है। यहाँ मैंने असंख्य देहों के outcome (भस्मी) की अवधारणा की। भस्मी मेरी असंख्य देहों की धारणा का outcome है। उसके साथ तद्‌रूपता नहीं अवधारणा होगी। मैं अपनी Fake और काल्पनिक देह-धारणा पर, एक देह की यथार्थ अवधारणा को ढोता हूँ, इसलिए जो Fake और काल्पनिक है, उसे टूटना ही होगा। देह-धारणा में काल्पनिक देहों की Reality भस्मी है, जो अपरिवर्तनीय और शाश्वत् है।

सम्पूर्ण मानव-देह की समष्टिगत वास्तविकताओं को जानने के लिए हमें ऐसी सत्ता से उसे देखना होगा, जो उससे बिल्कुल पृथक् हो। वह सत्ता दृष्टा जीवात्मा है। जो देह के कुल परिवर्तनों को क्षण-क्षण परिवर्तित होते देख रहा है वही कहेगा, कि देह परिवर्तनशील है। जिसने देह की नश्वरता को देखा है वही कहेगा, कि देह नश्वर है। इसका अर्थ है, वह स्वयं परिवर्तनशील एवं नश्वर नहीं है। हर पल, हर क्षण, हर अवस्था, स्थान, स्थिति पर जिसने इस देह को समस्त सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट संरचना देखा, वह दृष्टा देह से परे का तत्त्व होना आवश्यक है। देह की कुल अवधि का दृष्टा अवधि से परे होगा। यह दृष्टा वह है, जिसने देह रूप में मेरे होश सम्भालने से पहले और होश गुम हो जाने के बाद की अवधि भी देखी है। देह को अवधि से बँधे हुए देह ने नहीं देखा। देह रूप में तो मैंने अपना जन्म होते हुए नहीं देखा, मृत्यु नहीं देखनी। जहाँ देह के पाँच सद् और पाँच खण्ड जीवात्मा की जान्यता और मान्यता में आ जाते हैं, तो उस समय उसमें व उसकी देह में दरार पड़ चुकी होती है। इसे **'दरार-ए-मुराद'** कहा है।

जिसने जीवन-काल में अपनी देह को समस्त प्राणी जगत में सर्वोत्कृष्ट, परिवर्तनशील, नश्वर, अवधि से बँधे हुए और भस्मी होते हुए देखा है, उसमें उसकी विशुद्ध स्वरूपगत जीवात्मा सत्ता **(मैं)** जाग्रत होने लगती है। वह **'मैं'** (जीवात्मा) देह के पाँच खण्डों को देखने, जानने, मानने और चिन्तन करने लगती है। वहाँ से उसकी मेधा, विवेक, प्रज्ञा, ऋतम्भरा जाग्रत हो जाती हैं। तभी देह-चिन्तन प्रारम्भ होता है और देह की चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं। अतः मानव-देह धारण करके होश सम्भालने पर देह की इन पाँच विशिष्टताओं या वास्तविकताओं पर चिन्तन करना ही मानव का लक्ष्य है। क्योंकि आत्मानुभूति का आधार देहानुभूति है और ब्रह्मानुभूति का आधार आत्मानुभूति है। **'मैं'** (जीवात्मा) और **'तू'** (परमात्मा) दोनों की अनुभूति का आधार देहानुभूति है। देहानुभूति नहीं होगी, तो आत्मानुभूति नहीं होगी और आत्मानुभूति के बिना ब्रह्मानुभूति नहीं हो सकती। सद्‌गुरु-निर्देशन में उसकी कृपा से देह-चिन्तन ही देहानुभूति करवाएगा। देहानुभूति के साथ स्वतः ही आत्म-चिन्तन (मैं कौन हूँ) शुरू हो जाएगा। आत्म-चिन्तन, सद्‌गुरु-कृपा से आत्मानुभूति करवाएगा। आत्मानुभूति होते ही ब्रह्म-चिन्तन (तू कौन है) प्रारम्भ हो जाएगा, जिससे ब्रह्मानुभूति होगी। यह परस्पर सम्बद्ध हैं और समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(6 जनवरी से 1 फरवरी, 2008)

देहानुभूति

(भाग – 2)

मानव-जीवन एक वीणा है, सुर है, नाद है, रस है, भोग और आनन्दमय महोत्सव है। **'मैं'** (जीवात्मा) ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र हूँ, स्वयं में आनन्द एवं सहज सुख-राशि हूँ। मुझे (जीवात्मा को) दी गई मानव-देह ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट संरचना है। फिर भी यदि मैं अपने जीवनामृत का रसास्वादन नहीं कर पा रहा, तो इसके विषय में चिन्तनशील होकर सद्गुरु का शरणागत होना परमावश्यक है। अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिस जगत का हम अधिग्रहण करते हैं, वह दृश्यमान जगत साकार है। हमारी देह सहित चराचर जगत में जो कुछ भी दृश्यमान है, वह **हमारे अदृश्य व निराकार भीतरी जगत का यथावत् बाह्य प्रकाट्य है।** जब हम इस तथ्य को जाने-अनजाने अथवा मूर्खतावश भूल जाते हैं, तो हमारा समस्त जीवन व्यर्थ या निरर्थ ही नहीं, बल्कि अनर्थकारी हो जाता है। दैवीय दृष्टि से हम अपराधी घोषित हो जाते हैं। परिणामतः हमें कालेश्वर की 1008 धाराओं के अन्तर्गत सज़ाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

सद्गुरु के सद्निर्देशन में श्रवण, मनन, चिन्तन, यज्ञ-हवन, जप-तप, तीर्थ-यात्रा, ध्यान-धारणा आदि पुरुषार्थ कर्मों द्वारा हमारे भीतरी निराकार मानसिक जगत का अदृश्य अंकन सुन्दर हो जाता है। इसलिए बाह्य प्रकाट्य स्वतः सुन्दर होता है। सद्गुरु हमारे अदृश्य मानसिक जगत के अंकन को रूपान्तरित कर देता है। मेरे लिए अध्यात्म विशिष्टतम गुणात्मक जीवन की गुणात्मकता का मापदण्ड है। मेरी दृष्टि में dis-qualification या

असफलता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। लाभ-हानि, प्राप्ति-खोना, दुःखों-सुखों से परे आनन्द की स्थिति ही मेरी दृष्टि में जीवन की गुणात्मकता है। हमें मानव-देह के रूप में सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट एवं परम विलक्षण ईश्वरीय कृति से नवाज़ा गया है। हमें इसका गर्व होना चाहिए और इसका हर पल हम रसास्वादन करें, यही देखना मानवीय कर्म है। मेरे लिए अध्यात्म का आधार यही है। आज परम सद्‌गुरु-कृपा से मैं आत्मानुभूति के आधार पर जीव-सृष्टि में प्रकट देह सहित जगत में विभिन्न चाहतों के कारण मानवीय भटकन के विभिन्न आयामों को आप समस्त जिज्ञासुओं के सम्मुख रख रहा हूँ।

चाहत, चिन्ता, भविष्य और परिवर्तन पर्यायवाची हैं। इन सबका दामन-चोली का साथ है। किसी भी चाहत के साथ चिन्ता लगी रहती है। कोई भी इच्छा हमारे अन्तर्जगत में खलबली मचा देती है। चाहत के साथ चिन्ता सपरिवार (द्वेष, भय, विक्षेप, वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या, स्पर्धा आदि सहित) बिना बुलाए ही आ जाएगी। एक भविष्य खड़ा हो जाएगा और उसमें साकार जगत की किसी भी विधा में परिवर्तन अन्तर्हित होगा। हमारा मानस निराकार है और उसमें प्रस्फुटित इच्छा या चाहत भी निराकार है। वह हमारी आवश्यकता भी हो सकती है तथा भोग के लिए सुख-साधन भी। इच्छित वस्तु, प्राणी अथवा इनसे सम्बन्धित कोई भी विधा साकार होती है। इच्छाओं के कारण जीवन-काल में हम आजीवन बहुत कुछ, कभी कुछ-कभी कुछ, कुछ न कुछ करते रहते हैं। लेकिन जो कुछ पाते अथवा खोते हैं और जो कुछ होता है, उसका हमारे करने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का पूर्ण रूप से निर्माण, पालन और संहार करने वाला ईश्वर स्वयं में कुछ नहीं करता। वह कुछ नहीं करता और सब कुछ स्वतः प्रकट हो जाता है।

निराकार मानस में निराकार इच्छा के अभ्युदय एवं उसके साकार में प्रकटीकरण के मध्य हमारे द्वारा किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है। यदि हम स्वतः भाव को देखें, तो एक इच्छा, एक समय पर मानस में एक विशेष

मानसिक स्थिति में पैदा हुई, जो स्वतः होती है। उसका यदि साकार में प्रकाट्य होता है, तो वह भी स्वतः ही होता है। मध्य में कोई प्रक्रिया नहीं है। प्रक्रिया उन लोगों के लिए है, जो इच्छा को अपनी समझते हुए स्वयं को ही इच्छुक मानकर इच्छा का पूरक भी बना लेते हैं। मैं नहीं करूँगा तो कैसे होगा? मैं करके दिखा दूँगा। **जब कर्ताभाव आएगा, वहाँ प्रक्रिया सी होगी।** हम मानव होने के नाते जप-तप, यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ तथा अपने इष्ट व सद्गुरु के निर्देशन में जो कुछ प्रकरण करते हैं, वे प्रकरण हमारे मानस की इच्छा और उसके प्रकटीकरण के मध्य की **प्रक्रिया सी** को कर्ताभाव के उन्मूलन द्वारा समाप्त कर देते हैं। जिससे हम स्वयं में आश्वस्त हो जाते हैं, कि यह जो भी हो रहा है, वह मन में इच्छा के प्रस्फुटन के समान ही स्वतः होने वाला प्रकाट्य है। हमारे मन में अनेकानेक इच्छाएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं, लेकिन यह आवश्यक नहीं है, कि हर इच्छा की पूर्ति हो। जीवन में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ, स्थितियाँ आदि प्रकट होती हैं, जिनकी इच्छा थी ही नहीं। यदि इच्छा हुई भी, तो उसका प्रकाट्य हमारी इच्छा के अनुरूप ही हो, ऐसा भी बहुत कम होता है। जिसे हम अपनी इच्छा की पूर्ति मानते हैं, वस्तुतः वह इच्छा-अधूर्ति ही होती है।

हर इच्छा के इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल चार अंग होते हैं। जब हम स्वयं इच्छुक बनकर इच्छा को अपनी मान लेते हैं, तो यह स्वयं में अहं है। एक विशेष समय पर मानस में कोई इच्छा प्रस्फुटित होती है, तो हम इच्छुक बनाए जाते हैं। अति अहं भाव में इच्छापूरक भी हम स्वयं को मान लेते हैं, यह भाव ही अनर्थ की ओर गति है। दूसरे भाव में प्रभु-कृपा, सद्गुरु-कृपा को महत्त्व देते हुए हम मानते हैं, कि उनकी कृपा होगी, तो वस्तु प्राप्त हो जाएगी। इसके लिए प्रभु यदि मेरी देह द्वारा कुछ करवाना चाहेंगे, तो करवा लेंगे। कोई भी कार्य व्यक्तिगत नहीं है, उसमें मेरी समस्त समष्टि, साधक अथवा बाधक दोनों रूपों में सहयोगी होती है। मानस में स्वतः भाव से कोई इच्छा उत्पन्न हुई, हम इच्छुक बनाए गए। हमने इच्छापूरक प्रभु को माना अथवा स्वयं बने। यदि उसका साकार प्रकाट्य

होता है, तो हम उस प्राप्ति को ही इच्छा-फल मान लेते हैं। लेकिन **इच्छा-फल के दो आयाम होते हैं—एक तो साकार रूप में इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना अथवा खोना और दूसरे, उसके बाद की मानसिक स्थिति।**

मैं जब किसी भी इच्छा का स्वयं इच्छुक बनता हूँ, तो मेरे लिए उसका फल, साकार प्रकाट्य के रूप में वह वस्तु, प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति या स्थिति ही होता है। हे प्रभु ! ऐसा हो जाए तो मज़ा आ जाए। मैं एक स्थिति चाहता हूँ अथवा स्थिति पर स्थिति (परिस्थिति) चाहता हूँ। नाम, यश, डिग्री, पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा, सम्बन्ध अथवा कुछ भी चाहता हूँ। एक समय पर वह चाहत साकार में प्रकट होती है, तो बीच में कोई प्रक्रिया नहीं है। जैसेकि मन में इच्छा के पैदा होने में कोई प्रक्रिया नहीं थी, इच्छा स्वतः पैदा हुई। इच्छा के प्रकट होने में मैंने कुछ नहीं किया। यदि चालीस वर्ष की आयु में कोई इच्छा पैदा हुई तो क्या मैं 30 – 35 वर्ष उसके प्रस्फुटन के लिए प्रयत्न, अभ्यास अथवा संघर्ष करता रहा? निराकार मानस में किसी भी इच्छा का प्रस्फुटन स्वतः होता है, उसी के अनुसार उसका साकार में प्रकट होना भी स्वतः भाव से होता है। हमसे बहुत बड़ी भूल होती है, जब हम उस साकार प्रकाट्य को किसी तथाकथित अपनी प्रक्रिया के द्वारा हुआ मान लेते हैं।

इच्छा पर अपना अधिकार करके जब हम स्वयं इच्छुक बनते हैं, तो हम कर्ताभाव में आ जाते हैं और हमारे लिए प्रकाट्य न होकर वह किसी प्रक्रिया द्वारा प्राप्ति ही होती है। **यहाँ चार पर्यायवाची—चाहत, चिन्ता, भविष्य और परिवर्तन भी होंगे ही।** चाहत के साथ चिन्ता और चिन्ता के साथ भय, ईर्ष्या, वैर-वैमनस्य, द्वेष, स्पर्धा आदि का पूरा परिवार भी होगा। असुरक्षा की भावना, लुकाव-छिपाव और न लाने क्या-क्या होगा। ये सब भाव अदृश्य रूप से निराकार मानस में प्रकट हुई इच्छा के साथ स्वतः प्रकट हो जाएँगे। हम ये भूल जाते हैं, कि इच्छा जब स्वतः प्रकट हुई है, तो काम भी स्वतः ही होगा। लेकिन साकार जगत में किसी भी विधा के प्रति आकर्षण का भाव होते ही हमारे आन्तरिक जगत में खलबली सी मच जाती है।

आकर्षण शब्द में आकार, कारण और एषणा शब्दों के साथ **'कृष्ण'** भी छिपा है। किसी आकार की एषणा होने पर यदि उसके समस्त कारणों को कृष्णार्पण कर दें, तो प्रभु इच्छा से समय पर उस आकार का प्रकाट्य स्वतः ही हमारे लिए हो जाता है। उस प्रकाट्य के लिए हमसे भी दैवीय शक्तियों द्वारा आनन्द में कुछ करवा लिया जाता है। लेकिन दुर्भाग्यवश हम कर्ताभाव में आ जाते हैं, इसलिए हमारे मानस में चिन्ता के साथ उसका पूरा परिवार (ईर्ष्या, वैर, द्वेष, भय, तनाव, विक्षेप, ग्लानि, अवसाद, असुरक्षा की भावना, स्पर्धा आदि) निराकार विकृत भावों के रूप में उस प्रक्रिया के साथ लगा रहता है। जब इच्छापूर्ति होती है, तो इच्छा के ये समस्त अदृश्य संगी-साथी दृश्यमान होकर साकार रूप में प्रकट हो जाते हैं। पशुओं, स्थितियों, परिस्थितियों, प्राणियों, सम्बन्धियों, आस-पड़ौस के आलोचकों अथवा तथाकथित प्रशंसकों के विभिन्न रूपों में प्रकट होकर चिन्ता का यह परिवार उस प्राप्ति के साथ लग जाता है। उदारहणतः ज़मीन तो मिल गई लेकिन झगड़े वाली निकली, अब मुकदमा चल रहा है। मकान तो मिल गया लेकिन आस-पड़ौस अच्छा नहीं है, कुत्ते भौंकते रहते है या उस इलाके में बन्दर बहुत हैं, पानी की समस्या है, आदि। इसी कारण उस वस्तु का भोग और आनन्द तो क्या मिलना था, वह प्राप्ति ही तनाव का कारण बनी रहती है।

जो स्वयं को कर्ता मान लेते हैं, उनके लिए इच्छा और इच्छाफल के बीच प्रक्रिया होती है। वे समझते हैं, कि मेहनत किए बिना कैसे कुछ मिलेगा। वास्तव में मेहनत या कर्म यही है, कि हम स्वयं में पूर्णतः आश्वस्त हो जाएँ, कि इच्छा की पूर्ति भी समय पर ईश्वर-इच्छा से होगी, नहीं तो नहीं होगी। यहाँ इच्छाफल वस्तु की प्राप्ति अथवा खोने के बाद की आनन्दमयी मानसिक स्थिति होगा। किसी ने प्रक्रिया द्वारा कुछ मेहनत करके प्राप्त किया, किसी को बिना किए ही कुछ मिल गया, इसका कोई महात्म्य नहीं है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हमारी मानसिक स्थिति है, वह हर स्थिति में आनन्दमयी हो यह आवश्यक है। बाद की मानसिक स्थिति के बारे में मैं

पहले जान ही नहीं सकता। सारा खेल निराकार का है। अतः इच्छा उत्पन्न होते ही उसका ईश्वर-चरणों में समर्पण कर दीजिए, कि ''प्रभु ! यह मेरी इच्छा नहीं है, आपकी प्रेरणा से यह इच्छा पैदा हुई है, यदि मेरे हित में हो तो इसे आप पूरा कीजिए, नहीं तो मैं ऐसे ही ठीक हूँ।''

हमें मानव-देह मिली जो प्रभु की सर्वोत्कृष्ट एवं विशिष्ट संरचना है, हम इसका सदुपयोग करें। यह क्षणभंगुर, परिवर्तनशील एवं हमारे लिए अनिश्चित अवधि से बँधी है। इसकी अवधि का हमें ज्ञान न होना स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है। क्योंकि हमें यह ज्ञान है, कि उस अवधि के बाद यह भस्मी बन जाएगी। कब भस्मी बनेगी, यह ज्ञात नहीं है, लेकिन भस्मी अवश्य बनेगी, यह ज्ञात है। प्रभु ने अवधि हमें ज्ञात नहीं कराई, लेकिन अवधि पूर्ण होने के बाद जो (भस्मी बनना) होता है, वह हमें प्रत्यक्ष दिखा दिया। प्रभु ने हमें यह भी ज्ञान करा दिया, कि देह हर क्षण परिवर्तनशील है और इसका हर परिवर्तन स्वयं में पुनः परिवर्तनशील है।

हमारी चाहतों का दूसरा नाम परिवर्तन है। अन्तर केवल इतना है, कि चाहतें स्वयं निराकार होती हैं और जिस वस्तु, प्राणी अथवा इनसे सम्बन्धित किसी भी विधा की चाहत है, वह परिवर्तन साकार है। हमारी देह सहित साकार जगत में स्वतः होने वाले परिवर्तन हमारी चाहतों के मोहताज नहीं हैं। स्वतः होने वाले परिवर्तनों को रोका नहीं जा सकता। उनमें से जिन परिवर्तनों पर हम तथाकथित अधिपत्य कर सकते हैं, कर लेते हैं, कि मैं चाहता हूँ, ऐसा हो जाए। जब **'मैं'** (जीवात्मा) ने माना, कि मैं देह हूँ और देह मेरी है, तो देह सहित जगत मेरी मान्यताओं का मोहताज होकर सरताज हो गया, अर्थात् मेरे सिर चढ़ गया। इस प्रकार **'मैं'** जीवन में विभिन्न चाहतों, भविष्यों अथवा परिवर्तनों की कल्पनाओं में चिन्तित होकर भटकने लगा।

मानव-देह का एक निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य अथवा परिवर्तन ऐसा है, जो हमारी मान्यताओं का मोहताज नहीं है। जीवन में देह के साथ तद्रूपता में कल्पित अन्य भविष्यों की भाँति यह परिवर्तन हमारी कल्पना भी नहीं है। जीवन भर हम परिवर्तन से परिवर्तन चाहते रहते हैं और यह भूल

जाते हैं, कि हम जो चाह रहे हैं, वह भी परिवर्तनशील है। अतः फिर परिवर्तित होगा। इसलिए प्रभु ने मानव को देह **में** जीवन-काल में होने वाले समस्त परिवर्तनों को छोड़ कर देह **का अपरिवर्तनीय परिवर्तन** दिखा दिया। एक देह की वह भस्मी, सभी देहों की एक ही है। यह परिवर्तन देहातीत एवं सद् है। देह में तथा जीवन-काल में होने वाले परिवर्तन **'सद्'** नहीं हैं। वे देह की वास्तविकता नहीं हैं, क्योंकि वे बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे।

देह की मान्यता (मैं देह हूँ और देह मेरी है) में हमारे बन्धन दो प्रकार के हैं—एक वे बन्धन हैं, जिनके कारण हम देह व जीवन में विभिन्न चाहतों, चिन्ताओं, परिवर्तनों व भविष्यों में बँध गये। दूसरा बन्धन हमारे सद्‌गुरु व इष्ट के साथ है। यह बन्धन हमें पहले बन्धनों से मुक्त कर देता है। जीवात्मा, साकार देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता के कारण होश सम्भालते ही साकार देह सहित जगत में कुछ न कुछ चाहने लगता है। इसका मुख्य कारण यह है, कि देह धारणा की अवचेतना में यह अपने **अभावमय** आनन्द स्वरूप से पतित होकर **अभाव में** आ जाता है। **ज़रा** (थोड़ा) सा यह हो जाए, मुझे ज़रा (थोड़ा) यह मिल जाए। जन्म, मृत्यु, जरा, रोग—ये चार व्याधियाँ हैं; जिनका स्रोत यह **ज़रा** है। ज़रा यानि थोड़ा सा यह और मिल जाए, यह **ज़रा** जीवन पर्यन्त समाप्त नहीं होती। वस्तुएँ, पदार्थ, धन, सम्पदा और देह से सम्बन्धित विभिन्न विधाएँ मिलती रहती हैं, लेकिन **ज़रा** (थोड़ा सा) की चाहत समाप्त नहीं होती और जरा (बुढ़ापा) आ जाती है। अन्ततः हम जीवन से क्या चाहते हैं, यह आजीवन जान ही नहीं पाते।

धर्म-कर्म, जप-तप, ध्यान-धारणा, पूजा-उपासना, दान-पुण्य, प्राणायाम, यज्ञ-हवन, तीर्थ-यात्रा, सद्‌गुरु-सेवा आदि पुरुषार्थ कर्मों का लक्ष्य क्या है? इनसे क्या मिलने वाला है? यह पूर्णतया स्पष्ट होना आवश्यक है। नहीं तो हम कभी कहीं नहीं पहुँचेंगे। किसी स्थान से हम निश्चित समय में निश्चित गन्तव्य स्थान पर पहुँचना चाहते हैं और तदनुसार चलते हैं। गन्तव्य लक्ष्य की सुनिश्चितता के बिना हम अक्सर नहीं चलते। उस गन्तव्य लक्ष्य का

निश्चित दिशा-मार्ग होता है। यात्रा के आरम्भ से उस मंज़िल तक के मार्ग में जो कुछ भी आता है अथवा मिलता है; वह मार्ग में अस्थाई रूप से मिलने वाली प्राप्तियाँ अथवा स्थान हैं। दुर्भाग्यवश, अज्ञानवश कर्ताभाव में हम यह मान लेते हैं, कि मार्ग में स्वतः प्रकट होने वाली साकार विधाओं को हमने अपने कर्म द्वारा उपलब्ध किया है। हम उनमें ठहर कर अपनी मंज़िल ही भूल जाते हैं। From the beginning till our destination whatever we get they are nothing but on the way findings.They are for our temporary recreation, refreshment and rest, but they are not our destination. Unfortunately we are tempted by those temporary temptations and we forget our destination.

जीवन-काल में हुई प्राप्तियों को हमने अपना लक्ष्य समझ लिया और अपना वास्तविक लक्ष्य या मंज़िल भूल गए। हम नहीं जानते, कि हम कहाँ जा रहे हैं और हमारी मंज़िल या लक्ष्य क्या है? **सद्‌गुरु दरबार में हम अपनी मंज़िल जानने के लिए आते हैं, क्योंकि सद्‌गुरु ने वह लक्ष्य (Destination) देखा है।** हम देह की मान्यता में फँसे और देह से ही निकलेंगे। देह की हर अवस्था, हर आर्थिक स्थिति, हर पद-प्रतिष्ठा, शैक्षिक स्तर, हर क्रिया-प्रतिक्रिया, हर स्वरूप, हर प्राप्ति, हर खोने, हर परिवर्तन के साथ **'मैं'** (जीवात्मा) तद्‌रूप होता रहा और देह सहित जगत की विविध साकार विधाओं में ही लिप्त हो गया।

देह की मिथ्या मान्यता (मैं देह हूँ) में इस अनधिकृत एवं गैर कानूनी कब्ज़े को खपाने के लिए हम देह के परिचय, प्रमाण, प्रतिष्ठा, परिस्थिति, प्राप्तियों, पूर्णता व पागलपन में देह से, देह के लिए आजीवन ही नहीं जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं। एक गैर कानूनी मान्यता के कारण असंख्य मान्यताओं के भ्रमजाल में फँसे रहते हैं। इस अनधिकृत मान्यता की पुष्टि के लिए साकार देह व देह पर आधारित जगत की विविध विधाओं का आकार बढ़ाने को अपनी कर्मठता तथा अपने होने की सार्थकता मानते हैं। देह को तथाकथित अपने अनुसार गैरकानूनी तौर पर अपनाने के लिए सारा जीवन हम

देह से देह के लिए ही करते रहते हैं। वह देह जो हमारी कभी थी नहीं, है नहीं और होगी नहीं। मिली है, जाएगी अवश्य।

महादुर्भाग्यवश, अज्ञानवश न हम जानते हैं और न जानना चाहते हैं, कि जो कुछ हम कर रहे हैं, वह अर्थहीन तो है ही, साथ ही व्यर्थ, निरर्थ और अनर्थ की ओर भी ले जा रहा है। फिर भी हम आजीवन इस देह से देह के लिए इसलिए संघर्षरत रहते हैं, ताकि देह के साथ इस गैरकानूनी अधिपत्य व अध्यास की पुष्टि कर सकें, जोकि असम्भव है। यह देह बिना किसी पूर्व सूचना के हमसे छीन ली जाएगी। यह देह हमारी तब होगी, जब जीवन-काल में जीते जी शीघातिशीघ्र ध्यानाग्नि में इसकी भस्मी की अवधारणा करेंगे, कि मैं भस्मी हूँ। इससे जिस लक्ष्य के तहत हमें देह मिली है, वह लक्ष्य हमें मिल जाएगा। हमें जीवन का लक्ष्य जीवन में दर्शित नहीं है, लेकिन तब हम उस लक्ष्य का दीदार कर लेंगे। यही देह-दर्शन तथा सद्गुरु-दर्शन है। तब जो देह हमें Misguide कर रही थी तथा देह व देह सहित जगत में विभिन्न प्राप्तियों में भटका रही थी, वही देह हमें Miss करती हुई सद् की ओर Guide करना प्रारम्भ कर देगी।

सद्गुरु कहता है, कि जिस देह के आधार पर तेरी बन्धनकारी मान्यताएँ दृढ़ होती हैं, उसी देह का एक ऐसा स्वरूप (भस्मी) है; जो **देहातीत (देह व जीवन से परे) और देहातीत** (देह सहित जगत की समस्त विधाओं से परे) **है।** देह के सारे परिवर्तन व स्वरूप देह से युक्त हैं, लेकिन देह की भस्मी देह का ऐसा परिवर्तन व स्वरूप है, जो देह से मुक्त है। साथ ही देह का यह परिवर्तन स्वयं में अपरिवर्तनीय है। अतः एक ही मार्ग है, कि सद्गुरु-कृपा से मैं देह के निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य (भस्मी) के साथ जीवन-काल में तद्रूप हो जाऊँ। **विशेष-देह** की भस्मी उस देह **का** ऐसा निश्चित, दर्शित व परिलक्षित भविष्य है, जो स्वयं में अपरिवर्तनीय है और किसी **देह विशेष** को नहीं पहचानता। कोई कहे कि भस्मी से हमें क्या लेना है? हम यह तो सोचें कि जो हम कर रहे हैं, उससे हमें क्या प्राप्ति होनी है। जो प्राप्त करने के लिए हम दिन-रात संघर्षरत हैं, वह प्राप्ति हो भी जाए,

तो अन्ततः छूट ही जानी है। सब अस्थाई है, वह हमारे सामने ही परिवर्तित हो जाएगा अथवा अन्य परिवर्तन उसका स्थान ले लेगा।

धन, सम्पदा, स्त्री, वाहन, गाड़ियाँ, डिग्रियाँ, नाम-यश, शक्ति, पद-प्रतिष्ठा आदि जो कुछ भी जीवन-काल में मिलने वाली प्राप्तियाँ हैं, वह अस्थाई तौर पर विश्राम, मनोरंजन और ताज़गी देने वाली विधाएँ हैं। ये स्वयं में किसी परिवर्तन का परिवर्तन हैं। इसलिए आगे पुनः परिवर्तित होंगी ही। भस्मी, देह व जीवन का अन्तिम पड़ाव और अन्तिम ऐसा परिवर्तन है, जो देह में किसी परिवर्तन को नहीं पहचानता और स्वयं में अपरिवर्तनीय है। साथ में वह परिवर्तन कभी भी हो सकता है और निश्चित, दर्शित व परिलक्षित है। उसे **'मैं'** (जीवात्मा) ने न कभी देखा है, न देख पा रहा हूँ और न देखूँगा। क्योंकि देह के साथ तद्‌रूपता में मैंने अपना जन्म, मृत्यु, निद्रा, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं की तरह भस्मी भी नहीं देखी। देह की भस्मी के अतिरिक्त देह की सभी अवस्थाएँ देह सहित थीं। इसलिए मैं देह धारणा में सबके साथ तद्‌रूप होता रहा। **'मैं'** (जीवात्मा) ने स्वयं को माँ के गर्भ में नहीं देखा, अपना जन्म नहीं देखा, निद्रा नहीं देखी, मूर्च्छा नहीं देखी। यदि देखता तो देह सहित देखता। मात्र भस्मी ही मेरी देह का ऐसा स्वरूप है, जो देह रहित है और निश्चित, दर्शित व परिलक्षित है। इसमें क्या रहस्य है? मुझे मेरी देह की भस्मी देखने का जन्मसिद्ध अधिकार है, क्योंकि भस्मी मेरी देह की है। यह बात पृथक् है, कि भस्मी होकर वह किसी देह विशेष की नहीं होती। उसे मैं जीवन-काल में देख लूँ, तो मेरा जीवन-लक्ष्य मुझे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाएगा। इस लक्ष्य को सम्मुख रखे बिना देहानुभूति हो ही नहीं सकती।

भस्मी मेरी देह का अन्तिम पड़ाव है। यही वह मंज़िल व लक्ष्य है, जिस ओर हम स्वतः बढ़ रहे हैं। यह मेरी मानव-देह की Reality और उसका सद् है। यह मेरे समस्त Turnover का Overturn है। उसे मैं जीवन-काल में आत्मसात् कर लूँ, तो जीते जी अपनी समस्त चाहतों, चिन्ताओं, भविष्यों और परिवर्तनों की भटकन से मुक्त हो जाऊँगा। चिन्ता जीवित व्यक्ति को

जलाती है और चिता मुर्दे को जलाती है। सद्गुरु कहता है, कि ''यह देह-चिन्तन तेरे जीते जी तेरे मुर्दे को जला देगा। जीते जी जब तू अपने मुर्दे को जला देगा, तो तेरी चिन्ता और चिता दोनों समाप्त हो जाएँगी। **चिन्ता 'न' और 'चिता' 'न' ही चिन्तन है।''** निश्चिन्त होकर ही व्यक्ति चिन्तनशील हो सकता है और निश्चिन्त वही हो सकता है, जिसने जीते जी अपना मुर्दा जला दिया हो। सद्गुरु आश्वस्त करता है, ''जिस दिन तू अपनी भस्मी के बारे में ख्याल भी करेगा, थोड़ा सा, ज़रा सा विचार भी करेगा, उस दिन जीवन में ज़रा-ज़रा प्राप्तियों की चाहतें समाप्त हो जाएँगी। तुझे ज्ञान हो जाएगा, कि तेरी वास्तविक चाहत उस मानसिक स्थिति की है, जिसमें तू **'कुछ नहीं'** चाहता। जीवन-काल में जिनकी ज़रा (थोड़ा) की चाहत समाप्त हो जाती है, उन्हें कभी जरा (बुढ़ापा) नहीं आती। कितनी भी आयु में मानसिक रूप से वे स्वयं को युवा अनुभव करते हैं।''

जीवन-काल में देह के रहते हुए जब मैं भस्मी से आत्मसात् होऊँगा, तो देह के उस परिवर्तन में उतरने के बाद मैं सब परिवर्तन भूल जाऊँगा, क्योंकि यह **परिवर्तनातीत अपरिवर्तनीय परिवर्तन है।** ऐसा परिवर्तन है, जहाँ परिवर्तन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वह परिवर्तन जीवन के **बाद** है, जहाँ देह सहित जगत का **बाध** हो जाता है। वह देह का परिवर्तन है, लेकिन परिवर्तित होकर वह परिवर्तन देह का नहीं है। उस **परिवर्तन के लिए** देह चाहिए, लेकिन परिवर्तित अवस्था में उस परिवर्तन **को** देह नहीं चाहिए। उस परिवर्तन का अपना अस्तित्व व अपनी पहचान है। देह का वह परिवर्तन देह के सभी गुणों-अवगुणों तथा देह सहित जगत की समस्त विधाओं से रहित है। वह देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, पापातीत, पुण्यातीत, लाभ-हानि से अतीत तथा माया के तीनों गुणों से अतीत है।

देह के सारे परिवर्तनों व स्वरूपों से तद्रूपता की मान्यता मुझे (जीवात्मा को) देह से ही हुई। मैं पैदा हुआ था, मैं सोया था, मैं मूर्च्छित था, मैं मरूँगा, मैं सब कुछ भूल गया। देह के हर परिवर्तन व स्वरूप से **'मैं'**

(जीवात्मा) देह से तद्‌रूप होते हुए देह के उस एक निश्चित स्वरूप (भस्मी) से तद्‌रूप होना भूल गया। उसे **'मैं'** (जीवात्मा) ने जाने-अनजाने, मूर्खतावश, अज्ञानवश अथवा जानबूझ कर बिल्कुल उपेक्षित कर दिया। जबकि भस्मी ही मेरी देह का निश्चित, दर्शित व परिलक्षित परिवर्तन था। यह देहातीत परिवर्तन था और इसी में मेरा विशुद्ध स्वरूप छिपा हुआ था। इसके अतिरिक्त देह का कोई भी स्वरूप देहातीत नहीं है।

जब **'मैं'** (जीवात्मा) देह के हर स्वरूप के साथ तद्‌रूप हुआ, तो देह का यह निश्चित, परिलक्षित व दर्शित स्वरूप क्यों उपेक्षित कर गया। इसका मुख्य कारण यह था, कि **'मैं'** (जीवात्मा) ने दुर्भाग्यवश अपनी देह का वह स्वरूप देखा ही नहीं था। यद्यपि देह का वह स्वरूप होना मेरी जान्यता और मान्यता पर निर्भर नहीं था। लेकिन **'मैं'** (जीवात्मा) जानता था और मानता था तथा मुझे पूरा विश्वास था, कि मेरी देह एक दिन भस्मी होगी ही। यह देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित परिवर्तन **है ही, था ही और होगा ही।** देह का यह एक स्वरूप **'था'** (भूत), **'है'** (वर्तमान), और **'होगा'** (भविष्य) तीनों को स्वयं में समेटे है।

उसके साथ मैं कभी तद्‌रूप नहीं हुआ, क्योंकि देह के साथ तद्‌रूपता में **'मैं'** (जीवात्मा) ने अपनी देह का वह स्वरूप कभी नहीं देखा। सद्‌गुरु मुझे जाग्रत करता है, कि "बेटा ! देह की तद्‌रूपता में तुमने अपनी नींद भी तो नहीं देखी। अपनी माँ के गर्भ में तुमने स्वयं को नहीं देखा, अपने जन्म और शैशवावस्था, मूर्च्छावस्था और मृत्यु को भी नहीं देखा, लेकिन फिर भी अपनी देह के इन स्वरूपों को मान्यता दी। जो अपनी मृत्यु तूने देखनी नहीं है, उससे तू भयभीत है। अपना जन्म होते नहीं देखा, लेकिन हर साल तथाकथित अपना जन्मदिवस मनाता है। तेरे अधूरेपन की भी हद है। इसलिए अब तू अपनी **देह की भस्मी** को भी मान ले। **जो थी ही, होगी ही, है ही।** अपनी देह के उस निश्चित स्वरूप से भी तू तद्‌रूपता कर ले। जीवन-काल में जिस प्रकार तू जीवन में विभिन्न भविष्यों और परिवर्तनों की इच्छा रखता है, उनके साथ तद्‌रूप होता है, कि ऐसा हो जाएगा, तो मैं यह

बन जाऊँगा। उसी प्रकार देह व जीवन **के** इस निश्चित, दर्शित और परिलक्षित परिवर्तन के साथ तद्रूप हो जा, कि मेरी देह किसी भी दिन भस्मी बन सकती है, तो मैं भस्मी बन जाऊँगा। यह अवधारणा तेरी देह की धारणा व देह के साथ तेरी तद्रूपता को समाप्त कर देगी। तू अपने विशुद्ध चेतनामय स्वरूप की अनुभूति कर लेगा। तभी अपनी देह सहित जगत की विविध विधाओं में शिव-शक्ति-क्रीड़ा का दर्शन करते हुए जीवनामृत का रसास्वादन करेगा।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(10, 29 फरवरी, 2 से 11 मार्च, 2008)

देहानुभूति

(भाग – 3)

मानव-देह के पाँच सद्ों (विस्तार के लिए देखें देहानुभूति भाग–1) में से किसी एक को किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से सिद्ध करना ही मेरी दृष्टि में **'साधना'** की परिभाषा है। यदि हम किसी वस्तु का **'सद्'** नहीं जानेंगे और जानकर व मानकर उसकी अनुभूति नहीं करेंगे, तो उसका सदुपयोग कैसे करेंगे? हमें देह के **'सद्'** का ज्ञान नहीं है, यदि ज्ञान है भी, तो उसे तहेदिल से मानते नहीं हैं और अपने हिसाब से देह का कुछ न कुछ उपयोग करने से बाज़ नहीं आते। इसलिए हमारे द्वारा जो होता है, वह दुरुपयोग ही होता है। देह की सिद्धि के बिना आत्म-चिन्तन नहीं हो सकता, तदनुसार की गई साधना ही फलीभूत होगी तभी हम जीवन का आनन्दपूर्वक रसास्वादन करते हुए अपने विशुद्धतम स्वरूप की अनुभूति कर पाएँगे। जो जीवन के प्रत्येक विपरीत पहलू जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, मान-अपमान, उन्नति-अवनति, सुख-दुःख का आनन्द ले रहा है, वही मुक्त है और वही मोक्ष का अधिकारी है। जीवात्मा को मिली मानव-देह स्वयं में एक पहेली है :–

''आदि ज़ीरो, अन्त ज़ीरो, मध्य में मदान्ध ज़ीरो,
कैसे हो ज्वलन्त ज़ीरो?''

सद्गुरु के पास इसका उत्तर है:–

''मयि सच्चिदानंद ज़ीरो, सद्गुरु सद् संग ज़ीरो
भयी सच्चिदानंद ज़ीरो, ऐसे हो ज्वलन्त ज़ीरो।''

आत्मज्ञान एवं आत्म-चिन्तन के लिए सद्‌गुरु-कृपा से देह-चिन्तन और देहानुभूति होना परमावश्यक है। आत्मज्ञान की नींव का आधार **'देहानुभूति** है। देहानुभूति का आधार देह के सद् की जान्यता और मान्यता है और इनमें पूर्णतया समन्वय होने के बाद ही सद्‌गुरु की कृपा प्रवाहित होती है और उसकी कृपा से कृपा का अधिग्रहण होता है। मानव-देह ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट सुकृति है, जिसे हमने बिना जाने अपना मान लिया, तो यह सुकृति ही विकृति बन गई। फिर वहाँ अनुभूति (Realisation) का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी तथ्य या अतथ्य की जान्यता और मान्यता का आधार वास्तविक होना चाहिए। कोई वस्तु Fake है, तो हम यह जान लें और मान लें, कि Reality यह है, कि यह Fake है, Real नहीं है। तभी हम उसे Realise कर पाएँगे।

मानव-देह हमें मिली और होश सम्भालते ही उसे हमने अपना मानते हुए उस पर अनधिकृत कब्ज़ा कर लिया। न केवल देह मेरी है (देहाधिपत्य) बल्कि मैं देह हूँ (देहाध्यास) मानते हुए देह को ही अपना स्वरूप मान लिया। 'मैं देह हूँ और देह मेरी है'; मानते हुए मेरी देह के साथ तद्‌रूपता पुष्ट हो गई। तद्‌रूपता से देहाध्यास की पुष्टि हो गई और तद्‌रूपता में मैंने भ्रमवश, अज्ञानवश, जाने-अनजाने देह की हर अवस्था, देह के काल की हर विधा (समय, स्थान और स्थिति) पर अधिपत्य करने का असफल प्रयास किया। देह का काल, अकाल से बँधा है, इसलिए काल की कोई भी विधा मेरे हाथ में नहीं थी, लेकिन फिर भी मैं सतर्क और जाग्रत नहीं हुआ। यह तद्‌रूपता जन्मों-जन्मान्तरों में परिपुष्ट (पुष्ट पर पुष्ट) होती रही और अन्ततः मुझे देह-धारणा हो गई।

देह की कोई भी विधा मेरे हाथ में नहीं है, यह मैं जानता हूँ लेकिन मानता नहीं हूँ **'आई क्यू'** (I.Q. मानवीय बुद्धि) वाली बुद्धि **'क्यों आई'** इस विषय में मैंने चिन्तन ही नहीं किया। यह जानना कि समस्त मानवेतर प्राणी जगत से पृथक् एवं विलक्षण यह **'आई क्यू'** वाली बुद्धि **'आई क्यों'** ही इस बुद्धि की Realisation का प्रथम चरण है। जब तक हम अपनी उपलब्धियों

को Realise नहीं कर लेते, तब तक उनका भोग तो कर ही नहीं सकते। साथ ही वे उपलब्धियाँ हमारा भोग करती हैं। महादुर्भाग्य है, कि हम स्वयं से स्वयं को उपेक्षित करते रहते हैं। अपने पास बैठने का समय हमारे पास नहीं है। हम तो यह भी नहीं जानते, कि हम दुनिया में लाए क्यों गए हैं? अपनी तुच्छ सी मानवीय **'आई. क्यू.** वाली बुद्धि से अपने जीवन का अर्थ स्वयं लगाते हुए निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं।

जो पैदा हुआ है, वह मरेगा अवश्य। मैं मरूँगा क्योंकि मैं देहधारणा में मानता हूँ, कि मैं पैदा हुआ था। मैं पैदा इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि मैंने मरना है। मेरे पैदा होने का अवश्य ही कुछ विशिष्ट अर्थ है, जो मैं नहीं जानता। मैं पैदा क्यों हुआ? देखने में यह प्रश्न जैसा लगते हुए भी इसका उत्तर किसी के पास नहीं है। क्योंकि यह प्रश्न नहीं है, यह जिज्ञासा है। प्रश्नों का उत्तर हम अपनी 'आई. क्यू.' वाली बुद्धि से दे सकते हैं, लेकिन मैं पैदा क्यों हुआ हूँ, इसका उत्तर हम अपनी बुद्धि से नहीं दे सकते। यह **'आई. क्यू.'** वाली बुद्धि इसलिए आई, ताकि **'मैं'** इस विलक्षण बुद्धि से जान लूँ, कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है और स्वयं को उस महाशक्ति के सम्मुख समर्पित कर दूँ। यही इस बुद्धि के होने की सार्थकता है। इस बुद्धि से हुई हमारी जान्यता, विचार नित्य बदलते रहते हैं, लेकिन **'सद्'** कभी नहीं बदलता।

हमें उत्कृष्टतम मानव-देह प्राप्त करके भी इसकी Realisation अथवा अनुभूति इसलिए नहीं हुई, क्योंकि हमने बिना जाने इसे अपना मान लिया। इसलिए जन्मों-जन्मान्तरों तक इसकी अनुभूति नहीं हुई। क्योंकि **'जान्यता'** के महत्त्वपूर्ण सोपान का अभाव था। जानना और मानना परस्पर सम्बद्ध हैं। जानने के साथ मानना भी आवश्यक है और बिना जाने, मानने का कोई अर्थ नहीं होता। कभी-कभी किसी चीज़ को हम जानते हुए भी नहीं जानते, जानते भी है तो मानते नहीं और कभी-कभी तो वस्तु को मानते हुए भी नहीं जानते।

सद्गुरु अपने सद्शिष्य की जान्यता और मान्यता की सकारात्मकता देखता है, क्योंकि यही परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उसके मन और बुद्धि के

समन्वय का लक्षण होता है। वहाँ **'सद्'** का प्रकाट्य होता है। बुद्धि की जान्यता और मन की मान्यता दिखाई नहीं देती। **'अनुभूति'** तीसरा सोपान है, जो मात्र सद्गुरु-कृपा से होती है। देह के सद् को जानने और मानने के बाद जिज्ञासु अपनी जान्यता और मान्यता में हुए समन्वय को सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर देता है। उसके बाद सद्गुरु की कृपा से जिज्ञासु की मन-बुद्धि में संशोधन, प्रोसैसिंग आदि प्रकरण होते हैं। एक समय ऐसा आता है, कि उसे देहानुभूति हो जाती है।

सद्गुरु हमारी मन एवं बुद्धि का रूपान्तरण कर देता है। चुपचाप हमारे 'मन' को अपने पास रख लेता है। सद्गुरु जो भी करता-करवाता है, उसका आनन्द आने लगता है। उसके पास **फिर (दुबारा) जाने** को मन करता है और अपनी देहसहित जगत से **फिर (मुड़) जाने को** मन करता है। जिज्ञासु हैरान होकर देखता है–***''ज़िन्दगी मेरी थी मगर अब तो तेरे इशारों पे चला करती है।''*** जिज्ञासु पूर्ण रूपेण समर्पित होकर कह उठता है :–

''तू मेरा साहिब रहमाना, मैं तेरा दीदार दीवाना
तू मुझे खुशी दे या ग़म, यह तेरा अख्तियार है
हम बेनियाज़ हो गए झोली पसार के।''

जब खुली आँखों से जो दिखता है, उसे अनदेखा करते हुए हम अपनी देह सहित जगत की समस्त साकार विधाओं से आँखें मूँद लेते हैं, वहाँ हमारे अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं। सद्गुरु की कृपा का दर्शन इन अन्तर्चक्षुओं से ही होता है। जब बाह्य चक्षु मुँद जाते हैं, तो सद्गुरु वे दिव्य चक्षु (दिव्य दृष्टि) देता है। उस दिव्य दृष्टि से पहले हम स्वयं को देखते हैं। सद्गुरु अपने दृष्टिपात से पहले हमें हमारा स्वरूप दिखाता है। जब तक **'मैं'** का ज्ञान नहीं होगा, कि **'मैं'** (जीवात्मा) कौन हूँ, तब तक **'तू'** (परमात्मा) का ज्ञान नहीं हो सकता। **'मैं'** कौन हूँ, मेरा और देह का सम्बन्ध क्या है? यह देह मुझे क्यों मिली है? यह मेरे साथ रहती और बिछुड़ती क्यों है? यह देह सोती क्यों है? इसकी मृत्यु क्यों होती है? इसकी **भस्मी** क्यों बनती है?

मुझे (जीवात्मा को) दी गई देह एक दिन भस्मी अवश्य बनेगी और वह दिन कभी भी आ सकता है। तब उस भस्मी को देखने के लिए **'मैं'** (जीवात्मा) देह के रूप में नहीं रहूँगा, क्योंकि मेरी धारणा देह के साथ तद्‌रूपता में है और तब देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाएगी। मैं स्वयं को देखना चाहता हूँ। सद्‌गुरु की कृपा से मैं जान गया हूँ, कि मैं देह नहीं हूँ लेकिन मैं देह से छूट नहीं पा रहा हूँ। यद्यपि मैं जानता और मानता हूँ, कि मेरे सारे दुःखों का कारण देह के साथ तद्‌रूपता की धारणा है। इसीमें मेरी **'मैं'** (जीवात्मा) आच्छादित हो गई है, इसलिए मैं कौन हूँ, मैं नहीं जानता। **देह धारणा के कारण मैं अपनी पहचान खोकर परिवर्तनशील देह के परिवर्तनों का दृष्टा नहीं रहता, बल्कि हर परिवर्तन के साथ तद्‌रूप होकर परिवर्तित सा होता हुआ सुखी-दुःखी होता रहता हूँ।**

'मैं' (जीवात्मा) ईश्वरीय सत्ता (**'तू'**) को भी मानता हूँ और इस **'देह'** को भी मानता हूँ। **'मैं'** (जीवात्मा) ने **'तू'** को नहीं देखा और अपनी **'मैं'** को भी नहीं देखा। जब भी देखा **'देह'** को ही देखा और अनेक देहों के साथ देखा। जब देह साथ नहीं होती, तो मैंने न अपनी विशुद्ध चेतना **'मैं'** (जीवात्मा) को देखा न **'तू'** (ईश्वर) को देखा और कदाचित् मैं देख भी नहीं सकता। मुझे भली-भाँति ज्ञान है, कि **'मैं'** स्वयं में सच्चिदानंद और **'तू'** (ईश्वर) की भाँति देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, मायातीत, लिंगातीत हूँ। लेकिन देह और देह की सभी अवस्थाएँ इन सभी विधाओं से युक्त हैं। मैं सबसे मुक्त हूँ, लेकिन देह के बिना **'मैं'** नहीं होता, तो मैं स्वयं को कैसे देखूँ?

मुझे भली-भाँति ज्ञान है, कि देह मुझे मिली है और छीन ली जाएगी। यह देह जन्म-मरण की अवधि में बँधी है और मैं शाश्वत्, अजर, अमर जीवात्मा हूँ। यद्यपि मैंने अपना स्वयं का जन्म-मरण होते नहीं देखा, फिर भी अपना जन्म मानने, मनाने और मनवाने में आनन्दित होता हूँ। चिन्तित भी रहता हूँ, कि कभी भी मैं मर जाऊँगा, क्योंकि मैं देह से तद्‌रूपता में उसकी हर विधा से प्रभावित होता हूँ। मैं स्वयं को देह से पृथक् कैसे मानूँ? देह मुझसे

अलग होती दिखे, तो मैं मानूँ, कि **'मैं'** देह से पृथक् हूँ। सुषुप्ति, मूर्च्छा, मृत्यु आदि अवस्थाओं में देह मुझसे पृथक् होती है, लेकिन तद्‌रूपता के कारण मैं भी स्वयं को सोया, मूर्च्छित और मृतक मान लेता हूँ।

'मैं' की अनुभूति के लिए होश सम्भालने पर मुझे दो बातें जाननी और माननी है, कि **'मैं'** देह से पृथक् हूँ और मैं देह नहीं हूँ। देह के बिना मेरा (जीवात्मा का) **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य नहीं होता। देह के इस छोटे से एहसान के कारण मैं देह से तद्‌रूप हुआ और यह तद्‌रूपता परिपुष्ट होकर देह धारणा बन गई। मैं इससे कैसे छूटूँ? इस स्थिति में किसी भी कीमत पर जिज्ञासु अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करना चाहता है। किसी वस्तु, प्राणी अथवा किसी भी साकार विधा की वास्तविकता जानना एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का अन्त अनुभूति में होता है। वास्तविकता के ज्ञान के लिए हमें कुछ मापदण्ड या माप बिन्दु चाहिए।

अपनी देह सहित जगत की जिन समस्त दृश्यमान साकार विधाओं को हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अधिगृहीत करते हैं, यह सब ईश्वर की **माया** है। इस समस्त साकार की वास्तविकता निराकार और अदृश्य है। **'सद्'** से असद् का प्रकाट्य नहीं हो सकता। समस्त साकार जगत की वास्तविकता (नींव) अदृश्य थी, इसलिए हमने जाने-अनजाने, अज्ञानवश अथवा जानबूझ कर उसे उपेक्षित कर दिया। बाहरी चमक-दमक में ही हम सांसारिक जीव भ्रमित हो जाते हैं। सारा जीवन हम अपनी देह को और उसकी समस्त शक्तियों को देह के ही आडम्बरों और ताम-झाम के बढ़ावे में लगाए रखते हैं। इस आकार वृद्धि से **'मैं'** (जीवात्मा) कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि मुझे भीतर से यह ज्ञान होता है, कि मैं स्वयं उस स्तर पर नहीं हूँ। मेरी **'मैं'** जब तक अनावृत नहीं होगी, तब तक देह भी उदात्त नहीं हो सकती। जगत में दूसरे को नीचा दिखा कर हम कभी ऊँचे नहीं हो सकते।

ईर्ष्या एवं स्पर्धा की भावना विकृत मानसिकता की द्योतक है। We remain **one** out of all in the sense of competition. इसमें हम कुछ भी बन जाएँ, अन्ततः अधोगति को प्राप्त होते हैं। हमारी अपनी देह ही हमसे घृणा करने

लगती है। कोई छोटा न हो तो बड़ा कैसे होगा? इसका अर्थ है, कि एक नाम-रूप की देह में सीमित रहते हुए, अपनी देह सहित प्रकट जगत में अपने को, अपने से ही छोटा या बड़ा मान रहे हैं। इस तुच्छ, संकीर्ण व विकृत मानसिकता में आत्मोत्थान तो बहुत दूर की बात है, हम मानव जीवन जीने योग्य भी नहीं रहते। पशुवत् जीवन जीते हुए जन्मों-जन्मान्तरों में पुनः पुनः चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं।

हमारी वृत्तियाँ ही हमारा जगत बनती हैं। हमारी नीयत ही नियति का निर्धारण करती है। वृत्तियों का उत्थान ही मानव-जीवन में वास्तविक उत्थान है। जगत में भौतिक दृष्टि से हम किसी भी स्थिति में हों, इसका कोई अर्थ नहीं है। **पूर्ण स्थिरता जीवन का सबसे गुण है।** मानसिक स्थिरता ही भौतिक देह सहित जगत में स्थिरता बनकर प्रकट होती है। मानसिक स्थिरता के लिए स्वाध्याय और नित्य आत्मविश्लेषण बहुत आवश्यक है, कि मैं क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, कब तक करूँगा और कुछ भी करके जो मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, वह मुझे मिल भी गया तो क्या हो जाएगा? ये चार प्रश्न पूर्ण ईमानदारी से स्वयं अपने से करें, तो हमें ज्ञान हो जाएगा, कि हम किस स्थिति में हैं।मैं जानता हूँ, कि देह मुझसे सम्बन्धित है। ईश्वर की मेरे लिए सर्वोत्कृष्ट संरचना होते हुए भी सतत् परिवर्तनशील, नश्वर एवं मेरे लिए अज्ञात एक सुनिश्चित अवधि से बँधी है, साथ ही अन्ततः यह भस्मी अवश्य बनेगी, लेकिन **'मैं'** ऐसा नहीं हूँ। इस Realisation के बाद ही **'मैं'** (जीवात्मा) देह को Utilise कर सकता हूँ।

मानव-देह अनेक हैं और सब पृथक्-पृथक् हैं। इस Diversity में Similarity क्या है? यदि हम आत्म-चिन्तन करना चाहते हैं, तो हमें समस्त साकार अनेकरूपता में Real Common Factor लेना होगा। Real Common Factor परिवर्तित नहीं होगा, शेष सब परिवर्तित होंगे। सबकी **'मैं'** एक ही है, क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है। जगत में देहें अनेक हैं, क्योंकि मैं देह रूप में एक हूँ। इस प्रकार पूरे जगत और **'मैं'** को अपनी देह में समाहित कर लिया। Total Totality exists only in my consciouness in

name and form of the body. अवचेतना वाली देह नहीं होगी, तो जगत भी नहीं होगा। We are conscious about the world because we are conscious about our own body in name and form. इस अवचेतना वाली देह से जीवात्मा अपनी चेतना को Trace करता है।

मेरी अवचेतना है, तो देह है और देह है तो जगत है। मेरी Awareness में देह नहीं है, इसलिए जगत भी नहीं है। मैं शाश्वत् हूँ और देह नश्वर है। इस नश्वर से मैं अपनी शाश्वतता को देखना और जानना चाहता हूँ। जो देह मेरी Consciousness में है, उसकी Reality यह है, कि वह नश्वर है और सतत् परिवर्तनशील है। जीवात्मा की जागृति वहाँ से होती है, जब यह अपनी Consciouness वाली देह की Reality देखना प्रारम्भ करता है। यदि **'मैं'** (जीवात्मा) इसके साथ तद्‌रूप भी हूँ, तो भी इसकी भस्मी बनेगी। मैं इसकी निद्रा, मृत्यु और भस्मी को देख नहीं पाया, उन स्थितियों का आनन्द नहीं ले पाया, क्योंकि मैंने अपने को देह समझा हुआ है। **यह देह अवधि से बँधी है। 'मैं' तो इसके पहले भी था,** इसके दौरान हूँ और इसके बाद भी रहूँगा। ये **'था', 'हूँ'** और **'रहूँगा'** भी मैं देह धारणा के कारण कहता हूँ। यह देह मेरी देह-अवचेतना (Body Conscious) में है, नहीं तो मेरे लिए नहीं है। देह अवचेतना व इसके साथ तद्‌रूपता में **'मैं'** (जीवात्मा) अपनी Reality तो खो चुका हूँ, लेकिन देह की अपनी Reality तो है। क्योंकि इस देह का एक-एक रोम मेरे पिता सच्चिदानंद परमात्मा द्वारा निर्मित, पालित व संहारित है। देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता के भ्रम में देह की अवधि में बँधा **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को जन्मने-मरने वाला, परिवर्तित होता हुआ मान लेता हूँ।

देह और जगत मेरी (जीवात्मा की) Consciousness (अवचेतना) में है। मेरी Awareness (चेतना) में देह और जगत है ही नहीं। Fake की Reality यह है कि यह Fake है। खोटे पैसे की वास्तविकता यह है, कि पैसा खोटा है। जब तक वास्तविकता का ज्ञान न हो, तो खोटे पैसे को सही मानते रहेंगे। उदाहरणतः एक व्यक्ति को हम बहुत शान्त प्रकृति का मानते हैं, कुछ

दिन बाद किसी ने उसकी Reality बताई, कि वह व्यक्ति गूंगा है। आत्म-चिन्तक हर वस्तु की Reality देखता है। जब **'मैं'** (जीवात्मा) अपनी देह की अवचेतना की Reality देखता हूँ, तो मैं देखता हूँ, कि मेरी Awareness में देह व जगत हैं ही नहीं। So reality of my consciousness is my awareness. देह के साथ मैं अवचेतन हुआ हूँ, तो इस देह की अवचेतना का चमत्कार यह है, कि यह एक देह समस्त साकार जगत का आधार है। यह मेरी एक देह न हो, तो मेरे लिए अनेक देहें भी नहीं होंगी। सबकी **'मैं'** एक ही है, क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है। अनेक देहें इसलिए हैं, क्योंकि मेरी नाम-रूप की अवचेतना में एक देह है।

देह की वास्तविकता का पाँचवाँ चरण सबसे महत्त्वपूर्ण है, कि एक मेरी यह देह जब भस्मी बनेगी, तो न वहाँ देह होगी न जगत रहेगा। देह की परिवर्तनशीलता के कारण होने वाले सब परिवर्तनों में देह और जगत रहता है, लेकिन देह का यह निश्चित, दर्शित और परिलक्षित परिवर्तन ऐसा है, जहाँ देह और जगत का हमेशा के लिए बाध हो जाता है। जीवात्मा जब देह की अवचेतना में, देह के पाँच सदों में इस अन्तिम सद् में देह का भस्मी रूप देखता है, तो इसे अपने देह व जगत रहित विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति होती है। देह की भस्मी के गुण **'मैं'** (जीवात्मा) और **'तू'** (परमात्मा) के गुणों से मिलते हैं।

परम कृपालु सद्गुरु जीवन-काल में देह से **'मैं'** और **'भस्मी'** को मिला देता है। सद्गुरु-कृपा से देह के दौरान देह से बाहर आना ही मानव-देह का सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग है। ध्यान में एक देह की भस्मी बनने की अवधारणा देह सहित समस्त जगत का हमेशा के लिए बाध कर देती है। इस प्रकार जीवात्मा के अपने विशुद्ध स्वरूप की स्मृति जाग्रत हो जाती है। यह अपने उस स्वरूप को बनाये रखना चाहता है। सद्गुरु-कृपा से देह के इस निश्चित, दर्शित, परिलक्षित लेकिन देहातीत परिवर्तन को जीवन-काल में अवधारणा करके अपने किसी वर्तमान में उतारता है, तो जीवात्मा देह द्वारा ही देह की अवचेतना से बाहर आ जाता

है। इस प्रकार देह-अवचेतना की Reality ही जीवात्मा को इसकी अपनी Reality को Regain, Reinstitute और Resume करने में सहायक होती है।

सारे जगत और मेरी देह का Common Factor **'मैं'** (जीवात्मा) और मेरी देह की **'भस्मी'** है। समस्त वक्तव्य का सार है, कि मैंने देह धारणा की है, तो देह के निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य **'भस्मी'** की अवधारणा भी आवश्यक है। क्योंकि देह के रूप में कुछ बन सकूँ या न बन सकूँ, जगत में कुछ हो सके या न हो सके, मेरी देह की भस्मी अवश्य ही बनेगी। मैंने देह की अवधारणा की है, इसलिए देह के हर परिवर्तन के साथ परिवर्तित सा होता रहता हूँ। हर परिवर्तन स्वयं में परिवर्तित होता है और दूसरे परिवर्तन की जगह लेता है। मृत्यु के अतिरिक्त कोई भी परिवर्तन निश्चित व दर्शित नहीं है। मृत्यु निश्चित और दर्शित है, लेकिन परिलक्षित नहीं है। मृत्यु में मेरी नाम-रूप की देह रहती है और मृत्यु के बाद देह आगे भस्मी में परिवर्तित होती है। अतः देह की भस्मी ही देह का एक ऐसा निश्चित, दर्शित एवं परिलक्षित परिवर्तन है, जो न नश्वर है, न परिवर्तनशील है और न अवधि से बँधा है। **भस्मी स्वयं में मेरी तरह अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत् है।**

देह की सारी योजनाओं-परियोजनाओं, रूपों, अवस्थाओं, असंख्य परिवर्तनों, प्राप्तियों, खोने और होने में **'मैं'** किसका चुनाव करूँ? इन सबमें मेरे जैसा क्या है? मुझे देह मिली है। देह ने मेरे सामने असंख्य स्थितियाँ, रूप एवं परिवर्तन रखे, क्योंकि देह पल-पल परिवर्तनशील एवं नश्वर है। मैं इसके हर परिवर्तन, रूप एवं अवस्था के साथ **'मैं'** लगाता हुआ स्वयं को परिवर्तित सा मानने लगा। तो मेरा अपना तो कोई चुनाव ही न हुआ। देह को फिर जीवात्मा अपनी हैसियत जनवाता है, कि जिसने तुझे मेरे लिए बनाया है, **'मैं'** उसकी इकलौती सन्तान हूँ। देह फिर जीवात्मा की **फैन** हो जाती है और इसके लिए **फ़ना** होने के लिए तैयार हो जाती है। देह अपने सारे रहस्य जीवात्मा को बताती है, "हे जीवात्मा ! मेरी निद्रा में तेरी जागृति छिपी है। देह सहित जगत जब नहीं रहता, उसमें तू रहता है, तू उस स्थिति से जाग्रत हो।" जब देह सहित जगत से जीवात्मा का ध्यान हट जाता है

और इस अभावमयी स्थिति का इसे ज्ञान होता है, तो इस समाधि अवस्था में जीवात्मा जाग्रत होता है। देह अपनी दूसरी गुप्त चाबी (**मृत्यु'** की) भी इसे देती है। अपनी जाग्रतावस्था में जीवात्मा जब देह को मृतक देखता है, तो शवत्व की मानसिकता में इसे अपना अमरत्व पद मिल जाता है। देह इसके लिए रोज़ मरती है, फ़ना हो जाती है। देह ही इसे **मृत्यु से अमरत्व** की ओर ले जाती है। यहाँ भी जीवात्मा को हमेशा के लिए अपने अभावमय आनन्द की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि नाम-रूप की देह सहित जगत लय नहीं होता। फिर देह जीवात्मा के लिए अपना अस्तित्व समाप्त करके भस्मी बन जाती है। लययोग की इस स्थिति में इसका शिवत्व जाग्रत होने लगता है।

देह के समस्त परिवर्तनों में से **'भस्मी'** रूप परिवर्तन को जीवात्मा देह से पकड़ लेता है। वहाँ धीरे-धीरे इसकी देह-धारणा ही हटनी शुरू हो जाती है। जो देह रहती है, वह विदेह-देह होती है। देह का भस्मी रूप परिवर्तन **'शिव'** का है। वह जीवात्मा का स्वरूप है। जीवात्मा अपने शिवत्व को देह की भस्मी द्वारा Trace करता है, तो **मैं** और **भस्मी** जो सब देहों के समान तत्त्व है, मिल जाते हैं। **मैं भस्मी हूँ, यही जीवात्मा का स्वरूप है। बीच में से अवचेतना वाली देह लुप्त हो जाती है।** उस दिव्य देह में जीवात्मा की स्थिति हो जाती है। इसकी अपनी देह सहित सभी अवचेतनामयी देहों के असमान तत्त्वों में दो Common Factor थे **'मैं'** और **'भस्मी'।** जब दोनों मिल गए, तो देह अवचेतना जो वस्तुतः जीव भाव में आच्छादित चेतना थी, भस्मी भाव में अनाच्छादित होकर चेतनता में रूपान्तरित हो जाती है।

देह की निश्चित अवस्था, देह से प्राप्त की और **'मैं'** को उसके साथ जोड़ दिया तो 'मैं भस्मी हूँ' मुझे (जीवात्मा को) कहना ही पड़ेगा। वहाँ जाकर **'मैं'** (जीवात्मा) और भस्मी का मिलन हो जाता है और एक चमत्कारिक घटना घटती है, कि देह अपनी आहुति (देहाहुति) से आविर्भूत होती हुई **'अनुभूत'** हो जाती है। **यह देहानुभूति ही यजन और मानव-जीवन का जश्न है। यही देहानुभूति है। साथ ही 'मैं' (जीवात्मा) जब भस्मी से तद्‌रूप हो गया, तो उसे 'आत्मानुभूति' हो जाती है। एक**

ही समय में 'देहानुभूति' और 'आत्मानुभूति' साथ-साथ हो जाती है। कृपया एकाग्र करें, मैं पुनः वर्णन करूँगा। जैसे ही जीवन-काल में **'मैं'** (जीवात्मा) ने स्वयं को भस्मी से पहचाना तो **'मैं'** और **'भस्मी'** दोनों से **'देह'** लुप्त हो गई। देह की आहुति के बाद जो देह होगी वह **'आविर्भूत'** और **'अनुभूत'** देह होगी। तो **'मैं'** (जीवात्मा) को देहानुभूति और आत्मानुभूति एक साथ हो जाती है। **'मैं'** (जीवात्मा) ने देह के साथ होते हुए भी कभी नहीं कहा कि 'मैं भस्मी हूँ'। यह कहते और मानते ही **'मैं'** का विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप अनाच्छादित होकर प्रकट हो गया।

यह सभी देह के रहते, देह के कारण हुआ। अब वह अनुभूत और आविर्भूत देह भी **'मैं'** और **'भस्मी'** की तरह देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, मायातीत हो जाती है। जब देह के रहते **'मैं'** और **'भस्मी'** का देह द्वारा मिलन होता है, तो देहातीत भस्मी से मिलकर **'मैं'** (जीवात्मा) भी देहातीत हो जाती है और वह देह भी स्वयं में देहातीत विदेह देह में रूपान्तरित होकर आविर्भूत और अनुभूत हो जाती है। जो देह **'मैं'** और **भस्मी** का मिलन कराएगी, वह भावों द्वारा देहाहुति से आविर्भूत व अनुभूत देह होगी। वह मानसिक अवस्था सभी अवस्थाओं से परे उच्चतम स्थिति है। जो देहातीत है वह देह मुक्त है। देह का भविष्य भस्मी है और भस्मी देहातीत होने के कारण देह से मुक्त है। जीवात्मा देहानुभूति से जान जाता है, कि देह की सुषुप्ति की Reality है, कि **'मैं'** सदा जाग्रत हूँ, मृत्यु की Reality मेरा अमरत्व है और भस्मी की Reality मेरा शिवत्व है:–

'सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(12 मार्च से 6 अप्रैल, 2008)

कालातीत

काल से बँधी मानव-देह हमें ईश्वर की अकारण कृपावश मिली है। काल की तीन विधाएँ हैं—स्थान, समय और स्थिति। इन तीनों में समय के तीन रूप हैं—**भूत, भविष्य और वर्तमान** जो वस्तुतः **वर्तमान के ही तीन स्वरूप हैं।** भूत कभी वर्तमान था, इस समय जो वर्तमान है वह उसका भविष्य था। आने वाला समय उस समय वर्तमान होगा और इस समय जो वर्तमान है, उसका भूत हो जाएगा। इसमें महत्त्वपूर्ण बिन्दु जिसके आधार पर हम भूत और भविष्य की बातें करते हैं, वह **वर्तमान** ही है।

स्थान, समय और स्थिति काल की ये तीन विधाएँ परस्पर अविभाज्य हैं और इस प्रकार गुंथी है जैसेकि सद्, चेतन व आनन्द में किसी एक के साथ शेष दोनों भी सम्बद्ध होते ही हैं। इसी प्रकार किसी स्थिति के साथ समय और स्थान, किसी समय के साथ स्थिति व स्थान और किसी स्थान के साथ स्थिति और समय स्वतः जुड़ जाते हैं। तीनों में से एक भी खण्डित हो जाए, तो तीनों की श्रंखला टूट जाती है और हम सद्गुरु-कृपा से जीवन-काल में काल से परे अकाल-काल स्थिति में प्रविष्टि पा लेते हैं।

अंग्रेज़ी भाषा के व्याकरण में समय की भूत (Past), भविष्य (Future) एवं वर्तमान (Present) तीनों विधाओं के साथ Tense शब्द का प्रयोग किया गया है। तनावपूर्ण मानसिक स्थिति एवं अत्यधिक तनावयुक्त व्यक्ति को Tense कहा जाता है। हमारे मनीषियों ने समाधिस्थ होकर शब्दों के पीछे छिपे अर्थ की दैवीय अर्थवत्ता को अधिगृहीत किया है। भय और विष से परिपूरित किसी **भविष्य** का ख्याल भी उसकी अनिश्चितता

के कारण चिन्तित कर देता है। **'भूत'** का अर्थ प्रकट ही है। वर्तमान शब्द के **'व' 'र' 'त' 'म' 'आ' 'न' वर्णों के पीछे छिपा 'अमरतवान' शब्द वर्तमान की जीवन्तता का द्योतक है। भूत, भविष्य और वर्तमान समय की तीनों विधाओं का स्रोत एवं आधार 'वर्तमान' ही है,** जो स्वयं में आनन्दमय और अमरतवान है। हमने इष्ट-कृपा से आत्मानुभूति के आधार पर समय की इस वर्तमान विधा को तीन भागों में बाँटा है—वर्तमान-वर्तमान (वर्तमान), भूत-वर्तमान (भूत) और भविष्य-वर्तमान (भविष्य)। जिसको हम भूत या अतीत कहते हैं, वह भी कभी वर्तमान था और भविष्य जब भी आएगा, उस समय वर्तमान ही होगा। इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान की यह सतत् एवं अविरल निरन्तरता वर्तमान में ही चलती रहती है।

मानव-स्वभाव के अनुसार जब हम वर्तमान-वर्तमान में किसी भविष्य की योजना बनाते हैं या हमसे योजना बनवाई जाती है, तो जहाँ भविष्य खड़ा होता है उसके पीछे ज्ञात अथवा अज्ञात, प्रकट अथवा अप्रकट कोई चाहत अवश्य होती है। चाहत और चिन्ता का चोली-दामन का साथ है। चाहत के साथ चिन्ता के जुड़े होने का मुख्य कारण यही है, कि किसी चाहतवश जो भी भविष्य हमने खड़ा किया है, उसकी अनिश्चितता का हमें तहेरूह से ज्ञान होता है। हम माने चाहे न माने सुखद भविष्य की खुशी के साथ अज्ञात रूप से अनिश्चितता की चिन्ता अवश्य ही रहती है। दुःखद भविष्य स्वयं में दुःखद तो है ही, साथ ही हमें काल्पनिक निश्चितता के भय एवं तनाव से पूरित रखता है। भविष्य में वह दुःखद स्थिति पता नहीं आनी भी है या नहीं, लेकिन मैं व्यर्थ में उसके होने की कल्पना से वर्तमान में चिन्तित एवं दुःखी होकर ताना-बाना बुनता रहता हूँ। भविष्य में दृष्टिगत होती सुखद या दुःखद घटना की निश्चितता भी एक तरह से अनिश्चित ही है। सकारात्मक अथवा नकारात्मक दोनों रूपों में यह अनिश्चितता ही चिन्ता का कारण बनती है। जहाँ पर भविष्य की चिन्ता होगी, उसके साथ अतीत का शोक भी अवश्य होगा। ये परस्पर सम्बद्ध हैं। अतीत में हुई उपलब्धियों की खुशी चाहे न हो, लेकिन किसी भी कारण से हमने कुछ

खोया हो, तो उसका थोड़ा बहुत दुःख अवश्य रहता है।

अतीत भी कभी वर्तमान था, भविष्य भी कभी वर्तमान होगा और अतीत के शोक और भविष्य की चिन्ताओं का बोझ हमारे वर्तमान को झेलना पड़ता है। वास्तव में चिन्ता स्वयं में एक मानसिक विकृति है, जो जीवन की समस्त नकारात्मकाओं को स्वयं में समेटे होती है। इसका पाने-खोने से कोई सम्बन्ध नहीं है। शोक, त्रास, विक्षेप, रोग, दोष, विकार, वैर-वैमनस्य, आधि-व्याधि-उपाधि, द्वेष, स्पर्धा आदि का स्रोत चिन्ता ही होती है। चिन्ता का स्रोत चाहत है। चाहत हमेशा भविष्य की होती है तथा वर्तमान में होती है। इस प्रकार जीवन **में** चाहतें, भविष्य और चिन्ताओं के साथ हमारे हर वर्तमान को भयपूरित, विषैला एवं बोझिल किए रहती हैं। यह एक अंतहीन सतत्, निरन्तर चलती हुई श्रंखला है, जिसे तोड़ना बहुत कठिन है, लेकिन असम्भव नहीं है। वर्तमान के विभिन्न रूपों (अतीत-वर्तमान, वर्तमान-वर्तमान और वर्तमान-भविष्य) में कभी शोक, चिन्ता में और कभी चिन्ता शोक में रूपान्तरित होती रहती है। जहाँ भविष्य की चिन्ता होगी उसके निवारण होने के बावजूद भी हमारे किसी न किसी शोक का कारण बनेगी। इस प्रकार यह विकराल सिलसिला चलता रहता है।

साकार दृश्यमान जगत में विभिन्न वस्तुएँ, पदार्थ, व्यक्ति तथा इनसे सम्बन्धित विधाओं की प्राप्ति या खोना प्रारब्ध के अनुसार स्वतः होता है, लेकिन इन्हीं को महत्त्व देने के कारण हमारे मानस में चाहत, चिन्ताओं और भविष्यों का अनर्थकारी भावमय सिलसिला चलता रहता है। इसी प्रकार हमारा जीवन दर जीवन बीतने लगता है। अन्ततः हम भूत के शोक और भविष्य की चाहतों को लेकर ही किसी न किसी आसक्ति में संसार से चले जाते हैं। वस्तुएँ और समस्त उपलब्धियाँ यहीं रह जाती हैं तथा पुनः हम चाहतों की आसक्ति में ही जन्म लेते हैं।

सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड प्रपंच है। पंच-महाभूतों का अद्भुत, चमत्कारिक और विशिष्ट रूप से रहस्यमय संगम, संचालन, पालन, सम्पादन, संहार

और विलय अदृश्य ईश्वरीय शक्ति द्वारा ही होता है। यह संसार क्षण-भंगुर, अस्थाई तथा मायिक है। सम्पूर्ण महाकाल के सागर में एक बिन्दु रूपी काल में हम प्रकट होते हैं और कुछ समय विचरण करके उसी में समाहित हो जाते हैं। युगों-युगान्तरों में यह सिलसिला चलता रहता है। जीवन-काल के किसी अतीत में जहाँ तक हमारी स्मृति जाती है यदि हम दृष्टि डालें, तो वहाँ से लेकर अभी तक के अपने सम्पूर्ण जीवन को हम 10 – 15 मिनट में दोहरा लेते हैं।

एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में विशिष्ट घटनाओं की स्मृति होती है। अन्य मानसिक अवस्था में अन्य प्रकार की घटनाओं की स्मृति होती है। हमारे अतीत की समस्त घटनाएँ एक समय में हमारी स्मृति में नहीं आतीं। एक मानसिक स्थिति में जो घटनाएँ हमारी स्मृति में आती हैं, उस समय वही हमारा अतीत होता है। इसी प्रकार भविष्य भी है। एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में विशिष्ट भविष्य सामने खड़ा होता है और दूसरी मानसिक स्थिति में कोई अन्य भविष्य होता है। यह समस्त अतीत और भविष्य हमारे अमरतवान वर्तमान को विषाक्त एवं भयभीत करके रौंद देता है। ऐसा लगता है कि वर्तमान है ही नहीं, जब किसी अतीत को खड़ा किया तो अतीत वर्तमान बन जाता है, जब भविष्य को खड़ा किया तो भविष्य वर्तमान बन जाता है। इस अतीत व भविष्य का आधार वर्तमान ही है, जो आच्छादित ही रहता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों विधाओं से युक्त दृश्यमान मायिक जगत हमारे मन की मान्यता पर आधारित है। समय की भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों विधाओं में हमारी मान्यता है। विशिष्ट मानसिक स्थिति में कोई भी अतीत खड़ा कर लिया तो तद्नुसार भविष्य भी खड़ा हो जाता है और तद्नुसार वर्तमान भी होता है। सारा खेल हमारी मान्यता का है। इन्हीं मान्यताओं और जान्यताओं के मध्य हमारा सारा जीवन निकल जाता है और हाथ कुछ नहीं लगता।

हमारी मान्यताओं ने हमें जकड़ लिया और समस्त मान्यताओं का उद्गम स्रोत एक मिथ्या एवं असद् मान्यता है, कि मैं देह हूँ। गहन

अन्धकार में जहाँ कुछ न दिखाई देता हो, वहाँ साँप या रस्सी में हमें कोई भ्रम नहीं होता और पूर्ण प्रकाश में साँप अथवा रस्सी स्पष्ट दिखाई देती है, वहाँ भी भ्रम नहीं होता। परन्तु जहाँ न पूर्ण प्रकाश है न पूर्ण अन्धकार है, वहाँ भ्रम होता है। जीवात्मा ने देह की मान्यता इस भ्रम एवं अज्ञान की स्थिति में की। इस मान्यता का टूटना बहुत आवश्यक है, नहीं तो हम जीव-सृष्टि के भ्रमपूर्ण काल-चक्र में जन्मों-जन्मान्तरों में सुखी-दुःखी होते हुए भटकते ही रहेंगे।

मैंने अपने प्रवचनों में बार-बार कहा है कि जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है। आज जो व जैसे भी हम हैं, वह पहले जो थे, उसके कारण नहीं हैं। पिछले वर्ष जो हमारा आर्थिक स्तर था; आज की आर्थिक स्थिति उसके कारण नहीं है। आज यदि मैं बीमार हूँ तो कल के स्वास्थ्य के कारण तो नहीं हूँ। साकार जगत में प्रकट विधाओं के मापदण्ड के आधार पर हम अपनी उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, मान-अपमान, नाम-यश को मानने के भ्रमजाल में फँसे हुए हैं, क्योंकि देह को हमने अपना स्वरूप मान लिया। हम आजीवन इनके आवरण में अपनी मानसिक अशान्ति, तनाव, अस्तव्यस्तता, विश्रखंलता को ढकने के असफल प्रयास में लगे रहते हैं। हम भ्रमित हैं कि हम विकास कर रहे हैं। जहाँ अवनति होती है अथवा कोई असफलता होती है, वहाँ हम समझते हैं कि मेरी हानि हो गई। हम भौतिक साकार जगत में दृष्टिगत होते लाभ से प्रसन्न होते हैं इसका अर्थ है कि हानि पूरी तरह से हमारे मन-मस्तिष्क में बसी हुई है। उसी आधार पर तो हम बहुत खुश हो रहे हैं। यह बहुत बड़ी भूल है कि भौतिक रूप से हम आगे बढ़ रहे हैं अथवा हमारी अवनति हो रही है।

शिव **'समाधि'** स्वरूप है। वह समाधि का स्वामी एवं द्योतक है। वह बन्धन मुक्त है। काल की तीनों विधाओं समय, स्थान एवं स्थिति तथा समय के तीनों रूपों (भूत, भविष्य, वर्तमान) से परे है। उसका एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा (**मैं**) भी ऐसा ही है। मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष, जीवात्मा का स्वरूप है। जीवात्मा, देह से बँधा हुआ नहीं है; वह

बँधा **सा** है। किसी को कोई रोग हो तो उसका उपचार हो सकता है, लेकिन यदि अपने रोगी होने का वहम हो जाए, तो उसका इलाज अति दुस्तर व कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव हो जाता है। जीवात्मा स्वयं में देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत और मायातीत है, अतः मुक्त ही है। वह देह के साथ तद्‌रूप हो गया। मैं देह हूँ (देहाध्यास) यह भाव उसकी मिथ्या मान्यता है। हम संसारी जीवों के समस्त बन्धन व जकड़न मान्यताओं के कारण हैं। जीवात्मा देह के साथ तद्‌रुपता में जीव बनकर 'मैं देह हूँ' की मिथ्या मान्यता को पुष्ट करने में असंख्य मान्यताओं के चक्रव्यूह में फँस गया और मान्यताएँ ही चाहतें बन गईं।

सद्‌गुरु, सद् दृष्टा है, वही सद्‌दर्शन करवा सकता है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो हमें ईश्वर-कृपा से मिल नहीं सकती। परन्तु वस्तुओं का महात्म्य ही नहीं है। वस्तुएँ हमारे पास थीं ही नहीं और रहेंगी नहीं। हम मध्य में प्राप्तियों में भटक जाते हैं। मेरे पास देह पहले नहीं थी और अन्ततः रहेगी नहीं। हम स्वयं अपने साथ बैठकर अपनी स्मृति को अतीत, और अतीत, और अतीत में ले जाएँ, तो एक बिन्दु के बाद हमारी स्मृति हाथ खड़े कर देती है, कि इसके पहले क्या था, मैं नहीं जानता। ऐसे ही हम अपनी कल्पना को देह में भविष्यों में ले जाएँ। जो हमें सर्वोत्तम चाहिए, उसके लिए कल्पना कर लें, कि मानों हमें वह सब मिल गया तो फिर क्या हो जाएगा? यदि हम ईमानदारी से आत्म-विश्लेषण करना चाहते हैं तो अपनी कल्पनाओं, आकांक्षाओं, महत्त्वाकांक्षाओं का अवलोकन करें और उनकी प्राप्ति के बाद के परिणामों के विषय में चिन्तन करें, तो हमारी कल्पनाएँ ही हमें हमारा स्वरूप दिग्दर्शित करा देंगी। साथ ही उन वस्तुओं का महात्म्य भी हमारे लिए समाप्त हो जाएगा। महात्म्य समाप्त होने के बाद जो प्राप्ति होगी, उसे हम भोगेंगे।

हम कोरी कल्पनाओं को कोरा होकर देंखे। शहंशाहों की अपनी कल्पनाएँ होती हैं और भिखारियों की अपनी कल्पनाएँ होती हैं। हमारी

मान्यताओं और कल्पनाओं की भी एक सीमा है। इनमें किसी का किसी से कोई विरोध नहीं है। जीवन-काल में जितने भविष्य हैं, वे हमारी अपनी कल्पनाओं और मान्यताओं पर आधारित हैं। कुछ पूरे हो जाते हैं कुछ नहीं होते; जो पूरे हो जाते हैं वे और अन्य इच्छाएँ उत्पन्न कर देते हैं। फिर हम कुछ और चाहते हैं। जीवन में सभी भविष्य प्रारब्धवश पूरे होते हैं, कुछ मिलता है, कुछ नहीं मिलता। लेकिन जीवन **का** एक ही निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य है, जो हमारी किसी कल्पना या मान्यता का मोहताज नहीं है। **वह भस्मी ही विधि का विधान है।** इस भविष्य की कोई चाहत नहीं रखता। वह बिना चाहे मिलता है और जब मिलेगा तो हम नहीं होंगे। सद्गुरु-कृपा से विधि के उस विधान को विधि से प्रार्थना करके अपने वर्तमान में उतार लें। **उस भविष्य को वर्तमान में न उतरने देना विधि का विधान नहीं है।** विधि इसका प्रतिरोध नहीं करती, इसलिए यह हमारा अधिकार है।

उस महाकालेश्वर द्वारा निश्चित, विधि के विधान के अनुसार जीवन की अवधि समाप्त होने पर प्रकट होने वाले भस्मी रूप भविष्य को यदि हम जीवन-काल में देखना चाहें, तो मानव होने के नाते यह हमारा अधिकार है। यदि परम सद्गुरु-कृपा से मैं उसे देख लूँगा, तो मध्य से देह-भाव लुप्त हो जाएगा। उसका दिग्दर्शन होने से पहले मुझे अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति होगी। यही मानव-देह का लक्ष्य है। हम सबका एक निश्चित, दर्शित और परिलक्षित भविष्य है, जो विधि के विधाता द्वारा रचा गया है। इसे हम सब जानते हैं कि जीवन में करना-पाना-खोना और होना चारों आयामों में और कुछ हो न हो, लेकिन हमारी देह की भस्मी अवश्य बनेगी। इसलिए इसे आत्मसात् करना हमारा अधिकार है।

सद्गुरु-कृपा से **जीवन-काल के जिस वर्तमान में हम उसको उतार लेंगे वह वर्तमान खण्डित हो जाएगा।** क्योंकि विधि ने जीवन-काल में ऐसा कोई वर्तमान नहीं रचा है, जो मेरी देह की डेढ़-दो किलो भस्मी (विरक्ति) का भार वहन कर सके। एक बार वर्तमान खण्डित हो गया, तो हम समय की तीनों विधाओं (भूत, भविष्य, वर्तमान) से परे हो जाएँगे और स्थान, स्थिति

और समय से परे वह काल, अकाल काल होगा। काल की सीमाओं का उल्लंघन करते हुए महाकाल, जीवन-काल में हमें अकाल-काल की स्थिति में ले जाएगा। **महाकालेश्वर ने काल की सीमाओं में बँधी मानव-देह, जीवात्मा को काल के बन्धनों को तोड़ने के लिए ही दी है।** काल के बन्धनों को तोड़ने के लिए हमें वर्तमान को खण्डित करना होगा, क्योंकि वर्तमान ही अतीत था, वर्तमान ही भविष्य बनेगा और वर्तमान ही वर्तमान है।

आजीवन हम वर्तमान के ही इन तीनों स्वरूपों से बँधे रहते हैं। ऐसा अवश्य हो जाएगा, पहले ऐसा हुआ था। ऐसा करूँ**गा**–ऐसा किया **था।** यह गा+था = गाथा, वर्तमान से ही चलती है। अतः समय के तीनों रूपों से वंचित होने के लिए हमें वर्तमान को खण्डित करना होगा। इसके लिए विधि द्वारा रचे गए अपने निश्चित, दर्शित व परिलक्षित भविष्य (देह की भस्मी) को सद्‌गुरु-कृपा से अपने किसी वर्तमान में उतार लें। चिन्तन करें, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। मैं भस्मी हूँ और भस्मी मेरी है। हमने देह की धारणा की है, देह के हर परिवर्तन, हर अवस्था तथा हर भविष्य के साथ तद्‌रूप हुए, तो देह की भस्मी रूप भविष्य को देखने का भी हमें जन्म सिद्ध अधिकार है। वहाँ कर्मों, पापों या पुण्यों का कोई प्रश्न नहीं उठेगा। ''प्रभु मैं पापी हूँ या पुण्यी, जो भी हूँ आप मुझे भस्मी तो अवश्य ही बनाएँगे। देह में सभी भविष्यों की मैं कल्पना और मान्यता करता रहा हूँ, लेकिन देह की भस्मी बनना तो मेरी कल्पना या मान्यता पर आधारित नहीं है। देहधारणा के दौरान मैं अपनी देह के उस भविष्य के साथ आत्मसात् होना चाहता हूँ। मेरी देह की भस्मी माया की तीनों विधाओं (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) से अतीत है, क्योंकि वह देहातीत है। जो विधि ने रचा हुआ है मैं उसे देह में देखना चाहता हूँ यदि प्रभु ! मैं उसे देख नहीं सकता, तो मुझे देह का लाभ ही क्या है?''

हमारी समस्त चाहतों पर यह एक चाहत भारी पड़ जाती है। काँटे से काँटा निकाला जाता है। देह व जीवन में हर वर्तमान में असंख्य एवं गणनातीत चाहतें हैं। जहाँ चाहत होगी वहाँ चिन्ता एवं भविष्य अवश्य

खड़ा होगा। वर्तमान जो अमरतवान है, समस्त क्रियान्वयन यहीं से करना होगा। वर्तमान पर जब भस्मी रूप देहातीत भविष्य का बोझ पड़ेगा तो वहाँ वर्तमान में दरार पड़ जाएगी। अगर वर्तमान नहीं रहेगा तो भूत व भविष्य भी नहीं रहेंगे, क्योंकि हर भूत व भविष्य का आधार वर्तमान है। उसी घड़ी भविष्य की समस्त चिन्ताएँ एवं अतीत के शोक भी समाप्त हो जाएँगे। यही समय की भूत, भविष्य और वर्तमान विधाओं की निरन्तरता को तोड़ने की आध्यात्मिक तकनीक है।

भविष्य चाहतों, चिन्ताओं, भय और विष से युक्त है, जिसका बोझ वर्तमान को झेलना पड़ता है। यदि वर्तमान अमरतवान न होता तो हम इस विषय में सोच ही नहीं सकते थे। वर्तमान में ही जागृति, अमरत्व और शिवत्व छिपा है। महाकालेश्वर ने समय की इस अमरतवान (वर्तमान) विधा को इस प्रकार डिज़ाइन किया है, कि वह जन्मों-जन्मान्तरों के भूत एवं भविष्य के दुःख और चिन्ताओं का भार वहन करने में सक्षम है, लेकिन किसी एक जन्म की देह के निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य भस्मी (विरक्ति) का भार वहन करने में सक्षम नहीं है।

अक्सर हमें लोग यह कहते मिलेंगे, कि मैंने इस जन्म में तो कोई पाप नहीं किया पूर्व जन्म में किया होगा। इसीलिए अब दुःख भुगत रहा हूँ। अब मैं शुभ कर्म ही करता हूँ ताकि अगले जन्म में सुखी रह सकूँ। इस प्रकार देह की तद्‌रूपता में मुझे देह धारणा हो गई। मैं देह था, देह हूँ और देह रहूँगा, इस भ्रान्ति के साथ जब मैं किसी जन्म में सद्‌गुरु का शरणागत हुआ, तो सद्‌गुरु मेरी देहधारणा को पहले हृष्ट, पुष्ट एवं तुष्ट करवाता है। सद्‌गुरु कहता है कि "बेटा तू देह है इसलिए तू पैदा हुआ था और मरेगा भी। फिर तेरी अर्थी सजेगी और चिता पर लिटा कर तुझे मुखाग्नि दी जाएगी। वह भस्मी भी तो तेरी देह की ही होगी। देह धारणा में तूने यह धारणा तो कभी नहीं की, कि मैं भस्मी बनूँगा। तू अच्छी तरह जानता है कि तू और कुछ बने न बने भस्मी अवश्य बनेगा। तब तेरी देह की भस्मी तेरे लिए व्यर्थ होगी। तू देह की हर स्थिति को धारण करता है,

मैं सोया था, मुझे मूर्च्छित करके डॉक्टर ने मेरा ऑपरेशन किया, मैं मरूँगा, मुझे सुध-बुध भूल गई तो देह की इस स्थिति की अवधारणा क्यों नहीं करता।''

किसी विशेष नाम-रूप से सुसज्जित विशेष देह का शेष मात्र डेढ-दो किलो भस्मी है, जोकि देह का निश्चित, दर्शित और परिलक्षित भविष्य है। जीवन-काल में देह भूत, भविष्य, वर्तमान समय की तीनों विधाओं से बँधी है। सम्पूर्ण देह की सभी विधाएँ हमारे एक मन की मान्यताओं पर आधारित हैं और सम्पूर्ण विशेष देह का शेष भस्मी है। रंग-रूप, चाल-ढाल, सोच-विचार, भूत, भविष्य, वर्तमान, धारणाएँ-मान्यताएँ, स्थितियाँ-परिस्थितियाँ आदि प्रत्येक देह की प्रत्येक विधा स्वयं में विशिष्ट है। इसलिए प्रत्येक देह स्वयं में विशेष है। कोई देह कितनी और कैसी भी **विशेष** हो उसका **शेष** मात्र एक ही है, वह है—**भस्मी**। **वह शेष, देह विशेष का नहीं है।** यह बहुत चमत्कारिक दैवीय सूत्र है। विशेष देह साकार है और विशेष आकारों से बँधी है। प्रत्येक साकार विशेष देह के इस निराकार शेष का महात्म्य यह है, कि वह किसी देह विशेष का नहीं है अर्थात् वह सब देहों का है; जो काल-कवलित हो चुकी हैं उनका **वर्तमान है,** जो आज जीवित हैं उनका **भविष्य है** और आगे पैदा होने वाली देहों का **भूत है।**

जीवन के इस एक सुनिश्चित भविष्य के पीछे चाहत भी एक ही है कि ''मैं सम्पूर्ण जीवन **से** क्या चाहता हूँ? जीवन में जो पाया या खोया अथवा जो कुछ हुआ वह सब मेरे लिए एक न एक दिन डेढ़-दो किलो भस्मी में रूपान्तरित हो जाएगा, तो मुझे जीवन से क्या मिला? अतः प्रभु जीवन-काल में मुझे मेरी भस्मी दिखा दो।'' यह **चाहत मारक चाहत** (Want killer want) है। यह एक ऐसी हूक, एक ऐसा जनून है, जो जीवन में समस्त चाहतों को लील जाता है। सद्‌गुरु कहता है, कि ''तेरी मानव-देह की शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्तियों का केवल यही सर्वोत्तम सदुपयोग है।''

जीवन का निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य यदि **'भस्मी'** है, तो

जीव भाव में जीवात्मा के युगों-युगान्तरों के जीवन का अतीत और वर्तमान क्या है? हमारे विचारों, ख्यालों और अन्तर्मन में जो भी अतीत है वह तभी है, जब **'मैं'** (जीवात्मा) जीव भाव में किसी विशेष देह के साथ तद्‌रूप होता हूँ। देह धारण करके मेरे सारे भविष्यों का **'एक'** भविष्य है, वह है भस्मी। इस **'भस्मी'** का अतीत मेरी देह नहीं है। क्योंकि **भस्मी देहातीत (देह से परे) और देहातीत (देह सहित जगत की समस्त विधाओं से परे) है।** प्रश्न उठता है, कि सम्पूर्ण देह व जीवन **का** अतीत क्या है और वर्तमान क्या है?

देह व जीवन **में** भविष्य जीवन **का** भविष्य नहीं है, उसका जीवन के भविष्य से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। जितने भी भविष्य मैंने खड़े किए हैं अथवा जिनके विषय में कोई सोच सकता है; भस्मी उन सबका एक ऐसा भविष्य है, जहाँ कोई भविष्य नहीं रहता। इस जीवन **का** वर्तमान क्या है? अतीत क्या है? हर क्षण वर्तमान बदलता रहता है, उस बदलते वर्तमान के साथ हमारा अतीत और भविष्य भी बदलता रहता है। जहाँ वर्तमान होगा, वहाँ अतीत व भविष्य भी होगा, जहाँ अतीत होगा वहाँ वर्तमान एवं भविष्य भी होगा और जहाँ भविष्य होगा, वहाँ वर्तमान एवं अतीत भी होगा। **'भस्मी'** वास्तव में **भविष्यातीत भविष्य** है। अतीत, वर्तमान और भविष्य मेरी एक देह की अवचेतना में है। उस अतीत का अतीत यानि मेरा अतीतातीत अतीत और वर्तमानातीत वर्तमान क्या है?

'मैं' (जीवात्मा) ने देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता के कारण देह धारणा में देह की हर अवस्था के साथ तद्‌रूपता कर ली। मैं बचपन में ऐसा था, जवानी में ऐसा था, विवाह से पूर्व, विवाह के बाद, एक बच्चे का पिता, दो बच्चों का पिता, हर सम्बन्ध, हर प्राप्ति, हर खोने-पाने यानि देह की हर विधा को जीव भाव में **'मैं'** से जोड़ दिया। हर स्थिति वाली देह को **'मैं'** मान लिया। देह हर पल परिवर्तित होती रही और **'मैं'** हर परिवर्तन के साथ तद्‌रूपता में परिवर्तित **सा** होता रहा। देह की सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु से भी स्वयं को पहचाना, कि मैं सोया था, आपॅरेशन करते समय मुझे

मूर्च्छित किया गया, मैं सब कुछ भूल गया, मैं मरने वाला हूँ, मैं मरूँगा आदि-आदि। तो देह की भस्मी जो निश्चित, दर्शित व परिलक्षित भविष्य है, उससे स्वयं को पहचानना क्यों भूल गया? वह भस्मी भी तो मेरी देह की होगी। यह हम सब मानव भली-भाँति जानते हैं।

देह में असंख्य भविष्य हैं, लेकिन देह **का** भविष्य एक ही है। जो मेरी देह **का** भविष्य है। उसका अतीत मेरी देह नहीं है। यदि भस्मी का सम्बन्ध देह से है, तो सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की भूत, भविष्य व वर्तमान की युगों-युगान्तरों की जितनी भी देहें हैं, **भस्मी** सबकी है। युगों-युगान्तरों में जो गुज़र चुके हैं उनका **वर्तमान है,** जो जी रहे हैं उनका **भविष्य है** और जो अभी पैदा होंगे उनका **अतीत है**। मैं भस्मी हूँ तो मैं वर्तमान, भूत, भविष्य सब कुछ हूँ और इन तीनों में कुछ नहीं हूँ। मैं अकाल हूँ, कालातीत हूँ। **इसलिए सम्पूर्ण देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित वर्तमान और अतीत भी भस्मी ही है।**

माया की जिस विधा या चैनल में मेरी देह सहित जगत प्रकट होता है, तदनुसार उसका अपना भूत और भविष्य होता है। इस सम्पूर्ण देह व जगत **का** वर्तमान क्या है, जो कभी नहीं बदलता। वह वर्तमान सभी देहों का है, क्योंकि मेरी देह का भविष्य (भस्मी) सभी देहों का एक ही है और इसका अतीत मेरी देह नहीं है। सभी देहों में वर्तमान पृथक्-पृथक् हैं, अतीत पृथक्-पृथक् हैं, लेकिन सभी देहों **के** भविष्य के समान सभी देहों का वर्तमान एवं अतीत भी एक ही होना चाहिए। इस एक, वर्तमान और अतीत का दिग्दर्शन स्वप्न-सृष्टि के चिन्तन द्वारा किया जा सकता है। सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि भूत-भविष्य सहित एक निद्रा **'वर्तमान'** में चली। इसका अतीत व भविष्य भी निद्रा ही था। उस सम्पूर्ण स्वप्न का वर्तमान मेरी निद्रा है। **'मैं'** (जीवात्मा) उस निद्रा में ही 'था, थे, थी' और 'गा, गे, गी' में विचरता हूँ। साथ ही निद्रा का अपना कोई भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं होता। निद्रा स्वयं में निद्रा ही थी, निद्रा ही है और निद्रा ही रहेगी। स्वप्न-सृष्टि में जितने भी लोग प्रकट हुए, वे एक मेरी निद्रा में, मेरी एक

देह के नाम-रूप की अवचेतना के आधार पर प्रकट हुए। उस निद्रा में मेरे लिए न देह होती है न जगत होता है। निद्रा से यह तथाकथित जागृति उसी स्वप्न की Continuity है, जिसमें मैं कहता हूँ, कि मैंने स्वप्न देखा।

मेरी देह का निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य सबका है। उस भविष्य का अतीत मेरी देह नहीं है। एक मेरी देह की भस्मी जो मैंने न कभी देखी है न देख सकता हूँ, उसकी मैं अवधारणा इसलिए कर सकता हूँ, क्योंकि देह के साथ तद्रूपता में देह, मेरी धारणा बन चुकी है। भस्मी की अवधारणा (मैं भस्मी हूँ) जब सिद्ध हो जाएगी, तो वह सिद्धि मुझे बताएगी, कि जीव भाव में मेरा निश्चित, दर्शित, परिलक्षित वर्तमान और अतीत **निद्रा** है। अपनी देह की अवचेतना की मोह निद्रा में ही सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलिकाल आदि के विषय में सोचता हूँ। मेरी एक देह की भस्मी युगों-युगान्तरों में जन्मों-जन्मान्तरों की देहों का अतीत है, युगों-युगान्तरों में जन्मों-जन्मान्तरों की देहों का भविष्य है और वर्तमान तो है ही।

सद्गुरु के सद्निर्देशन में देह धारणा के दौरान जीवन-काल में जब मैं **'भस्मी'** की अवधारणा करता हूँ, तो मैं अपनी एक देह के निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य की अवधारणा करता हूँ। भस्मी की अवधारणा मैं कर सकता हूँ, **'निद्रा'** की अवधारणा नहीं कर सकता। प्रभु ने कृपा करके हम सबको हमारी अपनी एक देह का निश्चित, परिलक्षित दर्शित भविष्य दिखा दिया। भस्मी की अवधारणा करने में 'मैं देह नहीं हूँ, मैं भस्मी हूँ, यह अनुभूतिगम्य हो जाएगा। वह भस्मी ही यह रहस्य अनावृत करेगी, कि मैं भस्मी न केवल जीव भाव में मेरा (जीवात्मा का) भविष्य है, मेरा वर्तमान और मेरा अतीत भी है। **जीवन के प्रारम्भ का आरम्भ (प्रारम्भारम्भ) भस्मी है और जीवन के अन्त का अन्त (अन्तान्त) भी भस्मी है; साथ ही जो कुछ चल रहा है, वह भस्मी में ही चल रहा है। भस्मी का अपना कोई भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं है।** जिसका वर्तमान, भूत और भविष्य नहीं है वह समय से परे कालातीत है। समय के तीनों (वर्तमान, भूत और भविष्य) रूपों से परे

होने के कारण वहाँ काल की तीनों (समय, स्थान, स्थिति) विधाओं में से कोई भी विधा लागू नहीं होती।

अतः भस्मी न केवल कालातीत है अपितु स्थित्यातीत और स्थानातीत (देशातीत) भी है। **भस्मी,** देह का **दिगम्बर तत्त्व** है, जहाँ देह का लय हो जाता है। यदि **'मैं'** (जीवात्मा) देह हूँ, तो भस्मी क्यों नहीं हूँ और यदि भस्मी हूँ, तो अपने उस दिगम्बर तत्त्व की अनुभूति मुझे क्यों नहीं है? सद्गुरु-कृपा से जीवन-काल में **'मैं'** देह द्वारा, देह के लिए, देह के उस देहातीत दिगम्बर तत्त्व को आत्मसात् कर लूँ, तो **'मैं' भस्मीमय** हो जाऊँगा और मेरी देह **'मैं मयी'** हो जाएगी। तभी **'मैं'** देह के रहते कालातीत होकर अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभुति करते हुए जीवन का आनन्दमय रसास्वादन करूँगा।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(10 से 14 जनवरी, 31 मार्च एवं 23 अप्रैल, 2008)

शिवरात्रि-नवरात्रि

सद्गुरु-कृपा से एक विशिष्ट बात यदि मेरे पल्ले पड़ जाए, कि जो कुछ भी **'मैं'** कर रहा हूँ अथवा मुझसे करवाया जा रहा है, वह मेरे बिना भी बहुत अच्छा हो सकता है, तो मेरे भीतर जो तथाकथित कर्तव्य बोध या कर्ता भाव का अहं है, वह निर्मूल होने लगेगा। सफलता-असफलता से परे यह जीवन में सुफलता है। मैं किसी व्यवसाय या कार्य से बँधा हुआ हूँ, लेकिन वह व्यवसाय या कार्य तो मेरे से बँधा हुआ नहीं है अर्थात् मैं भी बँधा **सा** हूँ। कोई वास्तव में बन्धन हो, तो उसे खोला जा सकता है, लेकिन यह बन्धन **सा** बहुत भयंकर है। हम जन्मों-जन्मान्तरों से बँधे **से** चले आ रहे हैं। भौतिक जगत में व्यष्टि रूप में **'मैं'** जो हूँ, जैसा हूँ, जिस भी स्थिति में हूँ, उससे परम सन्तुष्टि और देह व जीवन का **सद्** जानने की जिज्ञासा होना, आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि के लिए प्रथम आवश्यकता है।

मैं पैदा क्यों हुआ हूँ, इस जिज्ञासा का प्रकट होना आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्ति की इच्छा का द्योतक है। इस इच्छा का बलवती होना आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि का लक्षण है और इसके आगे सब कुछ दाँव पर लगा देना ही पूर्ण प्रविष्टि है। मानव-जीवन एक रस है, एक भोग है, एक नशा है, एक वीणा है, एक सुर है। अन्यथा मानव-जीवन का कोई अर्थ ही नहीं है। मानव-जीवन स्वयं में एक महोत्सव है। जीवन का अर्थ, सार्थकता, यथार्थ और प्राप्ति मात्र **'आनन्द'** है। करना, पाना, खोना, होना, जीवन के चार आयाम हैं। इसका अर्थ यह है, कि सभी आयाम आनन्दमय हों अन्यथा मानव देहधारी होने के कारण दैवीय अदालत द्वारा लगाई जाने वाली 1008 धाराओं के अन्तर्गत सज़ाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

'मैं' निराकार जीवात्मा है। पहले मैंने देह को अपना माना, इसे देहाधिपत्य कहते हैं और इसकी पुष्टि 'मैं देह हूँ' (देहाध्यास) में हो गई। **'मैं'** और मेरे जीवन का सर्वस्व देह ही हो गई और मैं काल-चक्र के ऐसे चक्रव्यूह में फँस गया, जहाँ से निकलना कठिन हो गया। जन्मों-जन्मान्तरों में देहाध्यास की पुष्टि पर पुष्टि होती रही और मुझे देह की धारणा हो गई। मैंने देह के नाम-रूप से स्वयं को पहचाना। देह के **अनाम व अरूप** स्वरूप (भस्मी) से तद्‌रूपता नहीं की, जबकि वह स्वरूप निश्चित, दर्शित व परिलक्षित था। मुझे देह (आकार) का निराकार पकड़ना है, तभी मुझे देह पर अधिकार मिल सकता है। देह की भस्मी से स्वयं को पहचानने पर देह सहित जगत मेरे लिए हो जाएगा।

परम सद्‌गुरु-कृपा से किसी विशिष्ट जन्म में जीवात्मा (**मैं**) देह के सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, ख्याति, ऐश्वर्य को नहीं चाहता, बल्कि देह के **'कुछ नहीं'** (भस्मी) को चाहता है। वह जगत में प्रत्यक्ष देखता है, कि लगभग सभी के जीवन में ऐसा समय अवश्य आता है, जब बुढ़ापे के कारण देह को दर्पण डराने लगता है, झुरियाँ पड़ जाती हैं, दांत बाहर आ जाते हैं, कमर झुक जाती है, बुद्धि की स्मृति लुप्त हो जाती है, अनेक रोग घेर लेते हैं, उसके बाद मृत्यु हो जाती है तथा अग्नि-दहन के बाद देह खाक हो जाती है। देह का वह भस्मी स्वरूप, देहातीत (देह व जीवन से बाहर) है और देहातीत (देह की सभी विधाओं से परे) है। सद्‌गुरु-कृपा से जीवन-काल में देह की उस भस्मी से आत्मसात् होने की इच्छा बलवती होने पर देह जीवात्मा से इश्क करने लगती है। इतना इश्क करती है, कि कहती है–''हे जीवात्मा ! 'मैं' (देह) तो आनी-जानी पृथ्वी की विधा हूँ, 'तू' (जीवात्मा) शाश्वत् है, तू कभी भी मुझे छोड़ सकता है। तूने मेरी खाक को चाहा है, जो मेरा निश्चित, परिलक्षित व दर्शित परिवर्तन एवं भविष्य है। मेरा वह स्वरूप तथा वह परिवर्तन आज तक किसी ने नहीं चाहा, लेकिन तूने चाहा है। मैं इसके बदले में तुझे तेरा लक्ष्य दिखा देती हूँ।'' इस प्रकार देह ही **जीवन-लक्ष्य** जीवात्मा के सम्मुख रख देती है।

मानव-देह की हर कला और हर विधा स्वयं में परम रहस्यमयी, अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है। देह की एक ही विधा स्पष्ट रूप से निश्चित, दर्शित व परिलक्षित है, वह है—देह का अन्तिम भविष्य **'भस्मी'।** महादुर्भाग्यवश हम देह व जीवन में विभिन्न भविष्यों में खोए रहते हैं। हमारी समस्त एकाग्रता आने वाले कल के तुच्छ भविष्यों में रहती है। जीवन **में** ये भविष्य तुच्छ इसलिए हैं, क्योंकि वे अनिश्चित, अस्थाई एवं पुनः परिवर्तनशील हैं। Unfortunately we mask, punish and misdirect ourself in these frequently changes. हम अनिश्चित भविष्यों एवं परिवर्तनों के लिए योजनाएँ बनाते हैं। जीवन **का** भविष्य योजना-परियोजना रहित है तथा निश्चित, दर्शित एवं परिलक्षित है। वह ईश्वरीय योजनानुसार आएगा और कभी भी आ सकता है। वह मेरी देह का है, लेकिन देहातीत है। उसकी ओर से हम आँखें बंद किए रहते हैं, जैसे कि बिल्ली को पास आता देखकर कबूतर आँखें बंद कर लेता है।

समस्त जीवन के Over turn (भस्मी) को यदि हम नित्य देख लें, यही हमारा कृत्य है। शेष कार्य प्रभु-कृपा से स्वतः होगा। एक शिशु अबोध होता है, लेकिन अपनी अबोधता का उसे ज्ञान नहीं होता। जप-तप, यज्ञ-हवन, तीर्थ-यात्रा, सन्त-सेवा, ध्यान-प्राणायाम, दान-पुण्य आदि पुरुषार्थ कर्मों का सार केवल यही है, कि हमें बोधता में अपनी अबोधता का ज्ञान हो जाए। **शिशु की अबोधता अज्ञानमयी है।** वह नहीं जानता, कि वह कुछ नहीं जानता। हमारी **अबोधता ज्ञानमयी** हो जाए, हम जान जाएँ, कि हम कुछ नहीं जानते।

एक परम सद् हमारी चेतना में अंकित हो जाए, कि देह सहित जगत मुझे बना-बनाया मिलता है। अपनी देह के निर्माण और पालन-पोषण में मेरा कोई कार्य था ही नहीं। अब होश सम्भालने पर शिशुवत् मेरा यही भाव हो जाए, कि मुझे क्या मालूम कि मेरा कल का क्या प्रोग्राम है। अगले दिन को जो प्रोग्राम मैं बनाता हूँ, वह वास्तव में जानता हूँ, कि मैं नहीं जानता। रात्रि में मेरे 'सब कुछ' (मेरी देह सहित जगत) का संहार हो जाता है और मेरे हाथ

में कुछ नहीं रहता। '**मैं**' (जीवात्मा) साकार (देह सहित जगत अथवा जगत सहित देह) से निराकार में ले जाया जाता हूँ। मेरी देह सहित जगत का लय हो जाता है। देह और जगत के विध्वंस के बाद मेरे अपने अगले दिन के कार्यक्रमों का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

शिव का संहार मुझे मेरे समस्त कार्यक्रमों, जन्मों-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, धर्मों-कर्मों, देश, जाति, लिंग, सम्बन्धों और त्रिगुणामयी माया की समस्त विधाओं से मुक्त कर देता है। मेरी पहली झपकी के साथ मेरी देह तथा देह सहित जगत की समस्त विधाओं से मुझे छुटकारा मिल जाता है। अगले दिन का जो भी कार्यक्रम होगा, यदि होगा तो, वह साकार में होगा। इसलिए कल का कार्यक्रम मेरे माता-पिता (शिव-शक्ति) के हाथ में है, **यह ज्ञानमयी अबोधता है।** रात्रि में सोते समय मुझे ज्ञान है, कि अब मेरा संहार होने वाला है। I would be immediately none in all. मैं अपने निराकार स्वरूप में प्रविष्ट हो जाऊँगा। साकार में मैं One in all हूँ, क्योंकि यदि मैं देह हूँ, तो जगत भी हूँ और संहार के बाद मैं None in all हो जाऊँगा, क्योंकि मेरी देह सहित समस्त नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि का विलय हो जाएगा।

प्रातःकाल माँ जगदम्बा मेरे (जीवात्मा के) लिए देह सहित जगत का प्रकाट्य करती है। समस्त कार्यक्रम और वस्तुएँ प्राप्य हैं, जो मुझसे करवाना होगा, करवा लिया जाएगा और संध्या के समय परम पिता परमात्मा मुझे निर्वाण में ले जाएगा। फिर सुबह माँ भगवती निर्वाण से पुनः निर्माण में ले आएगी। सद्गुरु-कृपा से इस परम सद् की अनुभूति हो जाए, तभी जीवन का आनन्द आएगा, नहीं तो **'आनन्द'** केवल एक शब्द मात्र होगा।

जीवात्मा ने जब देह पर अनधिकृत कब्ज़ा किया, तो दैवीय दृष्टि से यह गैर कानूनी मान्यता थी। इस एक मान्यता की जड़ पर असंख्य मान्यताओं का वृक्ष पल्लवित हो गया। ये समस्त मान्यताएँ जीते जी एक भस्मी की अवधारणा से निर्मूल हो जाती हैं। देह मान्यता थी, जो

पुष्ट-परिपुष्ट होकर धारणा बनी। भस्मी अवधारणा है, अतः जीते जी देह धारणा पर भस्मी की अवधारणा से मैं देह होते हुए देह की धारणा से मुक्त हो जाऊँगा। तभी वस्तुतः '**मैं**' (जीवात्मा) अपनी देह व जीवन के जीवनामृत का पल-पल रसास्वादन कर पाऊँगा। **देह की मान्यता का टूटना ही मोक्ष है।** मोक्ष जीवन-काल में ही मिलेगा और तभी जीवन रस एवं जीवनामृत का रसास्वादन सम्भव होगा। जो मुक्त नहीं है, वह आनन्दयुक्त नहीं हो सकता। सोते समय जब अगले दिन के लिए न मेरी कोई इच्छा है और न मैं किसी भी चीज़ का इच्छुक हूँ, इस भाव के साथ मैं निद्रा में चला जाऊँ तो वह **शिवरात्रि** है:–

''या देवी सर्व भूतेषु निद्रा रूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।''

यह निद्रा निर्वाण निद्रा या समाधि निद्रा है, कि अगले दिन का मेरा कोई प्रोग्राम या योजना नहीं है। जब मैं अगले दिन सुबह उठा, तो उस दिन का मेरा अपना कोई प्रोग्राम नहीं होता। एक ही रात्रि में इतना बड़ा परिवर्तन आ गया, कि जब वह रात्रि प्रारम्भ हुई, तो अगले दिन का कोई प्रोग्राम नहीं था और उठते समय उस दिन का कोई कार्यक्रम नहीं रहा। **इसे ही शिवरात्रि व नवरात्रि कहा है।** हम शिवरात्रि में सोते हैं और नवरात्रि में उठते हैं। योगी सुबह जब ध्यान-समाधि में जाएगा, तो उसके बाद वैरागमयी मानसिकता से उठेगा–''हे प्रभु ! आज नया दिन व नई देह आपने मुझे दी है, इसका कुछ भी सदुपयोग मैं नहीं जानता, इसलिए इसे मैं आपकी इच्छा, आपकी शक्ति व आपकी कृपा से आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।'' शिवरात्रि में सोते समय हम साकार से निराकार में गए और नवरात्रि में उठते समय हम निराकार से साकार में आ गए। दिन की स्वामिनी माँ जगदम्बा है, रात्रि का स्वामी शिव है। इस भाव की सिद्धि होने पर ही माँ जगदम्बा उठते समय हमारे दिन का संचालन अपने हाथों में ले लेगी।

शिवरात्रि में **'सब कुछ'** का कल्याणमय संहार होता है और सुबह नवरात्रि में नव प्रकाट्य होता है। शिवरात्रि (मध्य रात्रि 12 बजे) दैवीय

निर्माण के लिए संहार है और नवरात्रि (वही मध्य रात्रि 12 बजे) अगले दिन के प्रकाट्य का अंकन है। मैं ब्रह्मज्ञान के इस परम रहस्यमय एवं श्रुतिगम्य विषय का आप समस्त जिज्ञासुओं के सम्मुख सविस्तार वर्णन करूँगा, कृपया एकाग्र करें।

हर रात्रि वस्तुतः निर्वाण की परम आनन्दमय स्थिति है। रात्रि में हमारे लिए हमारा साकार स्वरूप निराकार हो जाता है। उस प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में न हमारे लिए देह होती है और न ही जगत होता है। जब हमारी Consciousness में हमारी देह होगी, कि मैं अमुक-अमुक (नाम-रूप की देह) हूँ, तो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से तुरन्त तदनुसार उस समय का जगत भी होगा। चेतना (जीवात्मा) जब नाम-रूप की देह की अवचेतना में उतरती है, तो जीव-सृष्टि में आ जाती है। जीवात्मा सर्वप्रथम स्वयं को अपनी देह से पहचानता है और तुरन्त उसके लिए तदनुसार उस समय का जगत प्रकट हो जाता है।

हमारे लिए हमारी अपनी देह प्रकट हुई है। जिस समय हमने होश सम्भाला, हमारी अपनी देह हमारे लिए बनी-बनाई प्रकट हुई। साथ ही उस समय की होश के अनुसार हमारा एक जगत भी होता है। माँ, बाप, भाई, बहन, परिवार, स्कूल, संगी-साथी, अध्यापक, चिकित्सक, देश-काल, वातावरण, धर्म, कर्म, कर्तव्य, शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य आदि-आदि। शास्त्र ने इसे नित नूतन कहा है। प्रत्येक दिन हमें एक नई देह मिलती है और तदनुसार बना-बनाया जगत मिलता है। कोई भी दो दिन एक जैसे नहीं होते। नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता में हम भ्रमित होते हैं और स्वयं को काल की निरन्तरता में मान लेते हैं।

यदि हम एक दिन को पूरा जीवन मान कर चलें, तो सुबह उसका बचपन है, दोपहर जवानी, संध्या बुढ़ापा और रात्रि निर्वाण है। रात्रि में हम साकार से निराकार में चले जाते हैं। निद्रा में न हमारी देह होती है और न ही जगत होता है, जिसका हमें ज्ञान नहीं होता। हमें अपनी उस निराकार स्थिति की अनुभूति नहीं होती। इसलिए निद्रा जड़ता है। देह को व्यष्टि और

जगत को समष्टि कहा गया है। वास्तविकता यह है, कि हमारी देह व्यष्टि नहीं है। एक देह की अवचेतना देह सहित जगत की अवचेतना है। देह सहित समस्त साकार जगत (जिसे हम देख, सुन, सूँघ, चख व स्पर्श कर सकते हैं) की 84 लाख मायिक विधाएँ, योनियाँ या चैनल हैं। लिंग एक है और निराकार है। उस एक लिंग की शक्ति से ये चौरासी लाख योनियाँ कार्यान्वित होती हैं।

जब हम सुबह सुषुप्ति से उठते हैं, उस समय हमारी निराकार मानसिक स्थिति जिस योनी या चैनल में होती है, उसके अनुसार ही हमारी अपनी देह तथा उस पर आधारित उस समय का जगत होता है। यह चौरासी लाख मायिक विधाएँ पहले से ही अंकित हैं। **जब 'मैं' (जीवात्मा) परम विशिष्ट सद्‌गुरु-कृपा से उस मानसिक स्थिति में आ जाता हूँ, कि मुझे आगामी दिन का कोई काम नहीं है, उस रात्रि को शब्बेरात, शुभरात्रि, शिवरात्रि या सद्‌रात्रि कहते हैं।** रात्रि की वह समाधि स्थिति है, जिसका रसास्वादन मात्र योगी ही कर सकता है। यह एक योग की स्थिति है, जिसमें हम किसी भी कृत्य के कर्ता नहीं बनते। साधारणतः हम कर्ता भाव से रात्रि की निद्रा में प्रविष्ट होते हैं, कि आज मैने यह सब कर लिया, अब मैं थक गया हूँ, कल तरोताज़ा होकर कार्य पूरा करूँगा या आगे बढ़ाऊँगा। जहाँ भी हम भविष्य खड़ा करके सोते हैं, वहाँ हमारी चाहतों, चिन्ताओं, परिवर्तनों आदि से हमारा दिल-दिमाग बोझिल रहता है।

आनन्द अभावमय है, जहाँ अपनी होश में देह व जगत की समस्त साकार विधाओं का पूर्णतः अभाव हो जाए, वह आनन्द की स्थिति है। सुषुप्ति वह अभावमयी स्थिति होते हुए भी आनन्दमयी स्थिति नहीं है। निद्रा में हमें कुछ प्राप्ति नहीं होती, लेकिन फिर भी हम रोज़ सोते हैं और उठकर वही करने लगते हैं, जिससे थक कर सोए थे। कोई भी दिन मध्य रात्रि 12 बजे से शुरू होता है और मध्य रात्रि 12 बजे ही अन्त होता है। यह गणना रात्रि के बारे में नहीं है। क्योंकि हम नहीं जानते, कि रात्रि कब शुरू हुई और कब

अन्त हुई। दिन का अन्तान्त यदि शिवरात्रि में हुआ है, तो उसमें देह के नाम-रूप की अवचेतना में जो हमारी देह सहित साकार जगत है, उसका पूर्णतः विलय निराकार में हो जाता है।

निद्रा की तीन स्थितियाँ हैं—पहली, **प्रगाढ़ निद्रा**—जिसमें हम पूर्णतः अपनी नाम-रूप की देह की अवचेतना में नहीं होते; इसलिए देह सहित समस्त साकार जगत हमारे लिए निराकार में विलय हो जाता है। दूसरी, **निद्रा**—यह उठने से पहले की स्थिति है। इसे Semi Sleep या अलसाई हुई अवस्था कह सकते हैं, जिसमें हम सोए हुए भी नहीं होते और पूरी तरह से जाग्रत भी नहीं होते। तीसरी, **उठना**—जब हम निद्रा से तथाकथित जाग जाते हैं।

नवरात्रि बनाम नव दिन (मध्य रात्रि 12 बजे) की जो **प्रगाढ़ निद्रा** की अवस्था है, उसकी तुलना हम अपनी देह के **प्रारम्भारम्भ** के साथ कर सकते हैं। जो Semi Sleep है, वह **शैशवावस्था** के समान है और **उठना** हमारे **होश सम्भालने** की अवस्था के समान है। कोई भी दिन मध्य रात्रि 12 बजे प्रारम्भ होता है और मध्य रात्रि 12 बजे समाप्त होता है। आज यदि 12 अप्रैल 2008 है, तो दिन का प्रारम्भ 11 अप्रैल और 12 अप्रैल की मध्य रात्रि से हुआ और इसका समापन 12 अप्रैल और 13 अप्रैल की मध्य रात्रि में होगा। हम बात दिन की कर रहे हैं और सारी क्रीड़ा मध्य रात्रि से मध्य रात्रि की है। रात्रि इसलिए कहा है, क्योंकि नव दिन का शुभारम्भ नवरात्रि से होता है। जो रात्रि रात को 12 बजे **शिवरात्रि** में समाप्त होगी, वह रात्रि 12 बजे **नवरात्रि** में शुरू होगी। मध्य रात्रि 12 बजे दिन समाप्त भी हुआ और अगला दिन भी शुरू हुआ अर्थात् जिसे हम एक मध्य रात्रि कहते हैं, वह एक नहीं हो सकती। वह दो मध्य रात्रियों का अति सूक्ष्म संगम है और उनके बीच एक लव, एक निमिष या एक पल का ऐसा समय होता है, जो अकाल-काल (काल की गणना से परे)होता है। यह वह Silent Gap है, जिसमें **शिवरात्रि का नवरात्रि** में रूपान्तरण होता है। इसी में माँजगदम्बा (साकार की स्वामिनी) एक विशिष्ट चैनल लगा देती है।

जिस रात्रि को सोते समय अगले दिन का मेरा अपना देह सहित जगत में कोई कार्यक्रम न हो, वह शिवरात्रि है। यह तभी सम्भव होगा, जब मैं सोते समय पूर्णतः ईश्वर के चरणों में समर्पित हो जाऊँ, कि ''प्रभु ! जो कुछ भी मेरी देह सहित जगत में दिन भर हुआ, उसमें मैंने कुछ नहीं किया। जो कुछ करवाया गया, वह आपकी इच्छा, प्रेरणा व शक्ति से हुआ।'' इस भाव के साथ जब मैं अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना के साथ जगत की अवचेतना खोकर निद्रा में जाता हूँ, तो स्वतः ही अगले दिन का मेरा कोई कार्यक्रम नहीं होता। रात्रि 12 बजे वह रात्रि **शिवरात्रि** में समाप्त होती है और तुरन्त माया की 84 लाख विधाओं में किसी विशिष्ट योनी में वही रात्रि **नवरात्रि** में Record हो जाती है।

नवरात्रि में साकार देह सहित जगत की जो विशिष्ट चैनल लगी है, वह शिवरात्रि में निराकार हो जाती है और फिर नवरात्रि में साकार देह सहित जगत की दूसरी चैनल लगती है। हर रात्रि एक साकार अपने जगत सहित निराकार में रूपान्तरित हो जाता है; वह पुनः साकार में आए या न आए, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं होती। यह शिवरात्रि और नवरात्रि ही जीवन के आनन्द का रहस्य है। जैसे ही **'मैं'** (जीवात्मा) निद्रा से उठकर अपनी देह की नाम-रूप अवचेतना में आता हूँ, तो तुरन्त स्वतः उसी योनी की Recording के अनुसार मेरी देह सहित जगत प्रकट होता है। The world erupts, spruts and manifests out according to that already recorded channel.

समस्त माया की 84 लाख योनियाँ हैं और लिंग एक है, जो निराकार है। प्रभु के टी. वी. में 84 लाख सक्रिय और जीवन्त चैनल हैं, जो अदृश्य व निराकार रूप में पहले से अंकित हैं। इनका प्रकाट्य मेरे (जीवात्मा के) लिए नित्य नूतन विशिष्ट चैनल के अनुसार नई देह सहित जगत के रूप में होता है। यदि हमने रात्रि शिवरात्रि बिताई है, तो दिव्य चैनल लगती है और हम नवरात्रि में उठाए जाते हैं। यदि मानव-जीवन का प्रत्येक दिन नवरात्रि और शिवरात्रि नहीं है, तो वह आनन्दयुक्त हो ही नहीं सकता। जो जीवन आनन्दयुक्त है, वह

मुक्त है और जो मुक्त है वह आनन्दयुक्त है।

मानव-देह की परम सार्थकता यही है, कि हमारा सम्पूर्ण जीवन शिवरात्रि-नवरात्रि में बीते। यह कृपा-साध्य है और कृपा श्रद्धा-साध्य है। श्रद्धा समर्पण साध्य है और समर्पण कृपा-साध्य है। बिना कृपा के समर्पण हो ही नहीं सकता। बिना समर्पण के श्रद्धा नहीं हो सकती और बिना श्रद्धा के कृपा नहीं हो सकती। कृपा अकारण होती है। प्रभु क्यों कृपा करते हैं, यह न हम जान सकते हैं और न जानने की आवश्यकता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(4, 5 मार्च एवं 12 अप्रैल, 2008)

भ्रम

हमें मानव-देह प्रारब्धवश मिली है। प्रारब्ध एक प्रकार की Case File है। ईश्वर की विमुखता में कर्ताभाव से, अहंपूर्वक किए गए कर्मों का प्रतिफल **'प्रारब्ध'** है। जो ईश्वर को नहीं मानते उन्हें भी ईश्वर हवा, पानी, सूर्य की धूप, चन्द्रमा की चाँदनी आदि देता है, क्योंकि हम ईश्वर को माने या न माने, वह हमें मानता ही है। ईश्वर कभी हमारे विमुख नहीं होता, इसलिए हमारा विमुख होना दैवीय रिकार्ड में अंकित हो जाता है। ईश्वर-विमुख होने पर दैवीय दृष्टि में हमसे बहुत बड़ी त्रुटि तथा अपराध हो जाता है, जो कुछ ईश्वर कर-करवा रहा है हम यह समझने लगते हैं, कि मैं कर रहा हूँ। यह नासमझी हम सबका स्वभाव बन गई। हम सभी भ्रमित हो गए और इस भ्रम को ही सत्य मान बैठे। यह ज्ञान हो जाए, कि हमसे गलती हुई है तो गलती को सुधारा जा सकता है।

जीवात्मा जो अकाल में स्थित था, वह मानव-देह के साथ नाम-रूप में तद्रूप होकर जीव बना हुआ काल में विचरने लगा। जिस प्रकार ऊँट, बैल, घोड़ा, गधा चरते हैं, यह भी विचरने लगा। देह और जीवात्मा का तादात्म्य दुर्घटना बन गया। हम कई बार गलत बात मान लेते हैं और उसकी किसी न किसी तरह पुष्टि करते रहते हैं। जैसे एक झूठ को पुष्ट करने के लिए व्यक्ति कई झूठ बोलता है। एक झूठ को अनेक बार बोले जाने पर वह झूठ ही सत्य सा प्रतीत होने लगता है। 'देह मेरी है' (देहाधिपत्य) और 'मैं देह हूँ' (देहाध्यास) जीवात्मा की भ्रमित मान्यता है। इस एक भ्रमपूर्ण मान्यता की जकड़न में उसकी भटकन शुरू हो गई और शनैः शनैः यह असद् मान्यता ही इसकी धारणा बन गई। मानव के सारे रोग-दोष, पाप-पुण्य, कष्ट,

आधि-व्याधि-उपाधि, वैर-वैमनस्य, भय-विक्षेप, दुःख आदि इस एक असद् मान्यता में मान्यताओं के कारण हैं।

जीवात्मा और देह का अपना-अपना सद् स्वरूप है। लेकिन जब जीवात्मा ने देह को अपना स्वरूप मान लिया, तो उसका सद् स्वरूप असद् **सा** हो गया। जीवात्मा, देह के साथ बँध सा गया। हम देह से बँधे हैं तो देह से ही खुलेंगे। **'मैं'** (जीवात्मा) एक है और सबकी **'मैं'** एक ही है। सभी सम्बन्धों, देह की समस्त अवस्थाओं, प्रत्येक समय, देश, धर्म, लिंग, ऊँच, नीच सभी की **'मैं'** एक ही है। **'मैं'** का विस्तार असीम है और **'मैं'** एक ही है तथा देहें अनेक हैं। **हमारी एक देह हमारी एक देह सहित अनेकों का आधार है।** यह तथ्य यदि हमारी चेतना में मूलबद्ध हो जाए, तो इसका परिणाम आश्चर्यजनक होगा।

मानव-जीवन स्वयं में एक खुला शास्त्र है; सद्गुरु-कृपा से इसे पढ़िए। जब मानव-देह धारण करके जीवात्मा ने देह को अपना स्वरूप माना, तो यह गलतियों के ऐसे चक्रव्यूह में जकड़ा गया, कि इससे बाहर आना असम्भव सा हो गया। गलती के चार बहुत स्पष्ट और पृथक् वर्ग हैं। सर्वप्रथम साधारण भूल हुई, जिसे कहते हैं—**गलती से गलती हो जाना।** हम नहीं जानते कि हम गलती कर रहे हैं, लेकिन जो प्रतिफल होता है, वह गलत होता है। मानव जब होश सम्भालता है अर्थात् जब स्वयं को तथाकथित निर्णय लेने, परामर्श देने और कार्य करने योग्य मान लेता है, तो सर्वप्रथम उससे गलती से यह गलती हो जाती है, कि 'देह मेरी है'। **'मैं'** अदृश्य व निराकार है और देह साकार व दृश्यमान है। निराकार **'मैं'** (जीवात्मा) ने साकार देह को अपना मान लिया। जब गलती से गलती करके **'मैं'** (जीवात्मा) ने देह को अपना मान लिया, तो इसे शास्त्र ने **देहाधिपत्य** कहा। यह गलती से गलती थी, इसलिए दैवीय दृष्टि से **क्षम्य** थी।

गलती का दूसरा सोपान **सरासर गलती था; कि मैं देह हूँ।** इसे **देहाध्यास** कहा है। यह सरासर गलती इसलिए थी, कि जिन वस्तुओं, प्राणियों और विधाओं को हम अपना कहते हैं, वे हमसे पृथक् होती हैं, उन्हें

हम अपना स्वरूप नहीं मानते। उदाहरणतः कार मेरी है, घर मेरा है, दुकान मेरी है आदि-आदि। हम नहीं कहते, कि मैं कार हूँ, मैं घर हूँ। लेकिन देह के विषय में हम सबसे यह **सरासर गलती** हो गई। यहाँ जीवात्मा **फँस गया।** देह की हर अवस्था, हर रूप, हर परिस्थिति के साथ इसे अध्यास हो गया। जन्म से लेकर मृत्यु तक आजीवन देह के हरेक रूप को इसने अपना स्वरूप मान लिया। देह जिस भी स्वरूप, स्थिति, स्थान और समय की हो, वह मैं हूँ, क्योंकि मैं देह हूँ। एक ही **'मैं'** सब रूपों के साथ जुड़ गई। ये भी मैं था, ये भी मैं हूँ। यह गलती का तीसरा सोपान **'गलती पर गलती'** था और यह अपराध था। यहाँ देहाध्यास पुष्ट हो जाता है और जन्मों-जन्मान्तरों में पुष्ट पर पुष्ट (परिपुष्ट) होता रहता है।

मैं पिछले जन्म में किए पापों का फल भुगत रहा हूँ, अब मैं अच्छे कार्य कर रहा हूँ ताकि अगले जन्म में सुख भोग सकूँ। जन्मों-जन्मान्तरों में देहाध्यास की पुष्टि पर पुष्टि (परिपुष्टि) यानि **'गलती-दर-गलती'** होने से जीवात्मा को **देह-धारणा हो गई। 'मैं'** (जीवात्मा) देह धारणा में दैवीय अदालत की 1008 धाराओं के अन्तर्गत सज़ाएँ भुगतने लगा। प्रारब्ध की यह केस फाइल जन्मों-जन्मान्तरों में चलती रही। हम सब Divine Penal Code की 1008 धाराओं के अनतर्गत कुछ मायिक चैनलों में जन्मों-जन्मान्तरों से सज़ाएँ भुगतते हुए भटक रहे हैं। प्रभु ने संघर्ष करने और जूझने के लिए मानव-देह नहीं दी थी। ईश्वरीय संरचनाओं में विघ्न नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। लेकिन निम्नलिखित चार प्रकार की गलतियों के कारण हमारा सम्पूर्ण जीवन विघ्नों से भर गयाः–

1. गलती से गलती–देहाधिपत्य–देह मेरी है–**दैवीय दृष्टि से क्षम्य।**
2. सरासर गलती–देहाध्यास–मैं देह हूँ–**चेतावनी के साथ क्षम्य।**
3. गलती पर गलती–देहाध्यास की परिपुष्टि–एक ही देह की हर अवस्था के साथ अध्यास–**अपराध।**
4. गलती दर गलती–परिपुष्ट देहाध्यास से देह धारणा और जन्मों-जन्मान्तरों में अलग-अलग नाम-रूपों में अध्यास–**जघन्य अपराध।**

देह धारणा के कारण जन्मों-जन्मान्तरों में हमें **तथाकथित अपने** कृत्यों का फल भुगतना पड़ता है और हम देहधारणा से मुक्त नहीं हो पाते। यदि हम मानते हैं, कि हमारा जन्म हुआ है, तो प्रारब्ध केस फाइल जन्म-दर-जन्म चलती रहती है। देहाध्यास दर देहाध्यास की देहधारणा में प्रारब्ध के इस अन्तहीन सिलसिले को इसी जन्म में परम कृपालु सद्‌गुरु एक ही देह की देहातीत (देह से परे) दर देहातीत (साकार देह सहित जगत की सभी विधाओं से परे) भस्मी की अवधारणा द्वारा खण्डित करता है। सद्‌गुरु कहता है, कि ''तुझे देहधारणा है। देह की हर अवस्था और हर परिवर्तन के साथ तू अध्यास करता है। देह की भस्मी, तेरी इस देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित परिवर्तन है। तेरी देह की भस्मी मृत्यु के बाद बनेगी, इसलिए यह परिवर्तन **देहातीत** यानि देह से परे है। दूसरे भस्मी स्वयं में किसी देह को नहीं पहचानती और देह सम्बन्धी सभी विधाओं से परे होती है, इसलिए **'भस्मी'** देहातीत दर देहातीत है। देह रूप में तू देश-काल, धर्म-कर्म, कर्तव्य, सम्बन्धों, लिंग और माया के तीनों गुणों में बँधा है, लेकिन तेरी देह की भस्मी देहातीत होने के साथ ही देह की इन सब विधाओं से भी परे है। इसलिए देहधारणा में इसी एक देह की देहातीत दर देहातीत भस्मी की तेरी अवधारणा, कि मैं भस्मी हूँ; देहाध्यास दर देहाध्यास में हुई तेरी देहधारणा को निर्मूल कर देगी। बशर्ते तू देहधारणा व जीवन-काल में अपनी देह की भस्मी की अवधारणा करते हुए उसके दिग्दर्शन की इच्छा रखे। यही तेरे परिपुष्ट देहाध्यास का सदुपयोग होगा। तू प्रभु से प्रार्थना कर, कि मेरी देहातीत भस्मी भी मेरी देह की है, उसे कृपा करके मुझे मेरी देह में दिखा दो।''

गलती से हुई गलती (देहाधिपत्य) गलती दर गलती (परिपुष्ट देहधारणा) बन गया था। **'मैं देह हूँ'** यह जीवात्मा का भाव है। भस्मी की अवधारणा द्वारा प्रभु-कृपा से यह देह भाव, भस्मी भाव में रूपान्तरित होने लगता है। जिस प्रकार **'मैं'** सबकी एक है उसी प्रकार **भस्मी** भी एक है। सबकी **'मैं'** एक ही है, क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है। **'मैं'** लगाने वाले

सब लोग अलग-अलग हैं। एक ही व्यक्ति अलग-अलग समय पर अलग-अलग होता है। जगत में सब भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन सब भिन्नताओं और सारी सृष्टि का आधार एक नाम-रूप में मेरी देह की अवचेतना है। माया के 84 लाख चैनल हैं। मेरी मानसिकता जिस चैनल में होती है, उसी में मेरी देह सहित जगत उस समय प्रकट होता है। हम भूल जाते हैं, कि हम व्यष्टि (Individual) नहीं है। Our totality is our individuality and the individuality embraces our total totality. एक **'मैं'** देह रूप में एक से अनेक हुआ हूँ, अनेकों में **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है। अनेकों में भिन्नताएँ लिए हुए मेरी (जीवात्मा) की वृहद देह है, जिसका आधार मेरी एक देह है।

यह **'मैं'** चिन्तन ही आत्म चिन्तन है। हमें मनुष्य जन्म मिला है। जन्म हुआ है और मृत्यु कभी भी आ सकती है। इसका एक क्षण भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहिए। हम पैदा ही क्यों हुए, **सद्गुरु के शरणागत होकर यह जानना ही मानव जीवन का लक्ष्य है।** यदि मेरा जन्म हुआ है, तो मृत्यु अवश्य होगी। **'मैं'** सबकी और सबकी एक ही है। उस सबकी **'मैं'** (जीवात्मा) ने एक देह के साथ स्वयं को पहचान लिया। देह सबकी पृथक्-पृथक् है। सबकी अक्ल-शक्ल, चाल-ढाल, सोचने को तरीका, प्रतिभाएँ, गुण-अवगुण, रंग-रूप, शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्तर, बोल-चाल, जीवन-शैली आदि एक दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलते, सब अलग-अलग हैं। लेकिन **'मैं'** सबकी एक ही है। **'मैं'** के लिए किसी का किसी से कोई भेद या झगड़ा नहीं है, कि मेरी **'मैं'** दूसरा क्यों इस्तेमाल कर रहा है। यदि हम इस विषय को हृदयंगम कर लें, तो देह चिन्तन ही आत्म-चिन्तन में ले जाएगा।

'मैं' (जीवात्मा) मैं रूप (निराकार) में एक हूँ और **'मैं'** देह (साकार) के रूप में भी एक हूँ। मैं देह के रूप में एक हूँ, तो अनेक हैं। यदि एक मैं न होता तो अनेक कैसे होते? रात्रि को सुषुप्ति में **'मैं'** अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता, इसलिए अनेक (जगत) भी मेरे लिए नहीं होते। जब मैं निद्रा से उठता हूँ, तो मेरे लिए उस समय की देह के साथ उस समय का पूरा जगत भी स्वतः, साथ-साथ, तद्नुसार उठता है। देह के रूप में एक **'मैं'**

सोता हूँ, तो मेरे साथ मेरा पूरा जगत भी सोता है और जिस मानसिक स्थिति (मायिक विधा या चैनल) में मेरी उस समय की देह उठती है, उसी में मेरे लिए मेरा उस समय का जगत भी उठता है। **'मैं'** इन चौरासी लाख योनियों, मायिक चैनलों या स्थितियों से परे ईश्वर का मानस-पुत्र जीवात्मा हूँ। जिस **'मैं'** (जीवात्मा) ने देह के साथ स्वयं को पहचाना उसकी अपनी कोई चैनल नहीं है।

'मैं' मायातीत है। देह मायिक है तथा माया की चौरासी लाख विधाएँ या चैनल हैं, जो पहले से ही Recorded हैं। जब मैं देह के रूप में सुबह उठता हूँ, तो उस समय की देह पहले से ही मेरे लिए एक चैनल में लगी होती है और स्वतः तदनुसार, तुरन्त, साथ-साथ, जगत भी मेरे लिए वैसा ही प्रकट हो जाता है। एक ही मौसम परिवार के पृथक्-पृथक् लोगों को पृथक्-पृथक् लगता है, क्योंकि सबकी चैनल अलग-अलग लगी होती है। **'मैं'** सबकी एक ही है और **'मैं'** स्वयं में इन मायिक विधाओं से परे मायातीत है। देह सहित जगत मेरे लिए मायिक चैनल के अनुसार प्रकट होता है। चैनल में कुछ गलत या सही, पाप-पुण्य, लाभ-हानि, सुख-दुःख नहीं हैं; ईश्वर का खेल है।

महादुर्भाग्यवश **'मैं'** स्वयं को देह के साथ पहचान कर गलतियों के चक्रव्यूह में फंस गया और जगत सहित मेरी देह जो मायिक विधाओं के अनुसार क्षण-क्षण बदलती है **'मैं'** भी इसमें घसीटा गया और परिवर्तित सा होने लगा। इसलिए अनेक शास्त्र, उपनिषद्, वेद-वेदान्त पढ़ने और कई जन्मों प्रवचन देने तथा सुनने पर भी **'मैं'** इन मायिक विधाओं से अतीत अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति नहीं कर पाया। देह सम्बन्धी सभी मान्यताएँ और जान्यताएँ जब erase, demolish, evaporate, wash, smash, finish हो जाती हैं, तभी आत्मानुभूति होती है, जो मात्र सद्गुरु-कृपा से सम्भव है। जब देह सम्बन्धी सभी जान्यताएँ और मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं, तब गलती सुधरने लगती है और वह देह भी **'मैं मयी'** होकर **'तू'** (परमात्मा) के सम्मुख हो जाती है:–

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

यह विदेह-देह कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत एवं माया के तीनों गुणों से अतीत होती है। देश-काल, स्थिति, सम्बन्ध, धर्म-कर्म-कर्तव्य, लिंग, शुभ-अशुभ (सत्, रज, तम) का भाव तब तक रहता है, जब हम देह को भाव देते हैं। एक अपनी देह को भाव देने से यह समस्त इन्द्रजाल हमारे गले पड़ जाता है। भस्मी की अवधारणा सिद्ध होने पर जब देह को भाव नहीं देंगे, तो वह हमारी अभावमयी स्थिति है, जो देह सहित जगत की समस्त विधाओं से परे है। स्वयं को पूर्णतः जानने के लिए इस परम सद् की अवधारणा आवश्यक है, कि देह रूप में एक मैं हूँ, तो मेरे लिए अनेक देहें हैं। सद्गुरु सद्शिष्य को **एक से एकान्त** में ले जाता है। एकान्त की स्थिति में योगी का देह भाव समाप्त हो जाता है। उसकी एक देह का अध्यास समाप्त हो जाता है अर्थात् जहाँ उसकी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना नहीं रहती, वह एकान्त की स्थिति है। एकान्त स्वयं में अनेकान्त भी है, क्योंकि हम एक से ही अनेक हुए हैं।

एकान्त की स्थिति में चेतनता में देह सहित जगत का लय हो जाता है। **एकान्त स्वयं में समाधि है।** यदि मैं एक नाम-रूप की देह हूँ तो इसका अर्थ है, कि देह सहित जगत भी **'मैं'** ही हूँ। सम्पूर्ण जगत का आधार मेरी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना है। **'देह'** जीवात्मा का भाव है, देह वास्तव में है नहीं। निद्रा, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु की तरह समाधि में भी देहभाव नहीं रहता और तदनुसार उस समय का जगत भी नहीं रहता। निद्रा आदि जड़ता की स्थितियाँ हैं आनन्द की नहीं, क्योंकि वहाँ देह व जगत के न रहने तथा अपनी एकान्त की अभावमयी स्थिति का हमें ज्ञान नहीं होता। **समाधि में इस एकान्त की स्थिति को योगी अनुभव करता है।** एक देह के नाम-रूप की अवचेतना न रहने पर उसके लिए स्वतः ही स्वाभाविक तौर पर जगत का भी लय हो जाता है।

देह को भाव देते ही हमें काल को भाव देना पड़ता है। काल की तीनों

विधाओं–स्थान, स्थिति और समय (भूत, भविष्य, वर्तमान) का अस्तित्व देह-भाव में ही है। इन तीनों में से यदि एक भी खण्डित हो जाए, एक की निरन्तरता टूट जाए, तो तीनों टूट जाएँगी। स्थान, स्थिति और समय तीनों परस्पर गुँथे-मुँथे हैं। जीवन-काल में सद्‌गुरु-कृपा से जीवन के निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य भस्मी की अवधारणा (भस्माध्यास) में देह होती है, लेकिन देह का भाव समाप्त हो जाता है। देह-भाव के स्थान पर भस्मी-भाव हो जाता है। देह **'मैं मयी'** हो जाती है। सब भ्रम दूर हो जाते हैं। जीवात्मा की विशुद्ध अभावमय आनन्द की स्थिति के प्राकट्य का रसास्वादन होने लगता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(17 जनवरी एवं 18 मार्च, 2008)

विघ्न

हमारे जीवन की कथा होश में आते ही विघ्न से प्रारम्भ होती है। जहाँ जीवात्मा ने देह के साथ तद्‌रूपता की, कि **मैं देह हूँ,** यहीं सबसे बड़ा विघ्न पड़ गया। जीवात्मा स्वयं में अभावमय से अभाव **में** आ गया। अभावमय स्थिति में जीवात्मा आनन्दमय, अजर, अमर और सभी ईश्वरीय विभूतियों से विभूषित था, लेकिन देह के साथ तद्‌रूपता में जन्म-मरण, दुःखों-सुखों, उत्थान-पतन, लाभ-हानि, यश-अपयश के चक्रव्यूह में फँस गया। वस्तुतः यदि हम विवेक से विचार करें, तो पाएँगे कि हमारा जीवन विघ्नों से भरा हुआ है। **हमारी तथाकथित कर्मठता विघ्न डालकर विघ्न निवारण में ही व्यर्थ हो रही है और जो होना है, वह स्वतः हो ही जाता है।** साथ ही विघ्न और पड़ जाते हैं। हम गुणात्मक नहीं मात्रात्मक जीवन जी रहे हैं।

मेरे प्रवचनों और मेरी दृष्टि में अध्यात्म का सार यही है, कि **जीवन का हर पल आन्नदमय और विघ्न रहित हो; यही जीवन-मुक्ति है। जीवात्मा की देह साथ नाम-रूप की पहचान में स्वयं में विघ्न है।** इसमें देह और जीवात्मा दोनों आच्छादित हो गए। इस विषय का सविस्तार वर्णन मैंने **'भ्रम'** शीर्षक प्रवचन में किया है। देह के साथ तद्‌रूपता में **'मैं'** (जीवात्मा) जो भी कर रहा हूँ, वह गलती है और विघ्न है। कर्ताभाव से किया गया हर कर्म **पाप** है। कर्ता बनेंगे तो भरता अवश्य बनेगा और जीवन विघ्नों से भरा रहेगा।

जीवन में हमारे समस्त कार्यक्रमों का एक दैवीय कार्यक्रम होता है। जिस प्रकार मेरी देह के क्रियाकर्म का कार्यक्रम मेरे हाथ में नहीं होता, उसी

प्रकार जीवन-काल में मेरे जो भी तथाकथित कार्यक्रम होते हैं, उनके कार्यक्रम भी मेरे हाथ में नहीं होते। जीवन-काल में मेरे द्वारा बनाए गए प्रोग्राम किसी कार्यक्रम के तहत बनते हैं। जिस कार्यक्रम के तहत मेरे कार्यक्रम बनते हैं, उनमें अक्सर सम्पर्क सूत्र का अभाव होता है और यह अभाव विभिन्न विघ्न बनकर प्रकट हो जाता है। वे विघ्न न होकर मेरी नासमझी और अज्ञान का उत्पाद होते हैं। मेरे बनाए कार्यक्रमों में अड़चन या विघ्न आते ही इसलिए हैं, क्योंकि कार्यक्रम मैंने बनाया। मैंने स्वयं कार्यक्रम इसलिए बनाया क्योंकि देहाध्यासवश देह सहित जगत पर अधिपत्य कर लिया। जिस ईश्वर ने मेरी देह बनाई है, उसी ने मेरे लिए समय-समय पर तदनुसार जगत भी प्रकट किया है और कोई भी कार्य Individual नहीं है। यदि उसके कार्यक्रम के अनुसार मैं चलता तो विघ्न क्यों पड़ता? जीवन में तथाकथित कार्यक्रमों का कार्यक्रम मेरे हाथ में नहीं होता, लेकिन मैं फिर भी अपने हस्तक्षेप को रोक नहीं पाता।

'श्रीगणेश' वह ईश्वरीय सत्ता है जो हमें सतर्क करती है, कि ईश्वरीय कार्यक्रमों में हमारा हस्तक्षेप विघ्नकारी होता है। हम आजीवन इसका कारण जाने बिना दुःखी-सुखी होते रहते हैं। हमें देह ईश्वरीय कार्यक्रम के अनुसार बनी-बनाई मिली है और ईश्वरीय योजनाओं के अनुसार पलती है तथा जब ईश्वर चाहे इसे वापिस ले लेता है। ईश्वरीय कार्यक्रम के अनुसार ही इसका क्रियाकर्म होता है। जीवन में होश सम्भालने से होश गुम होने तक हम जो कुछ भी करते हैं, वह ईश्वरीय योजनाओं के अनुसार ही करते हैं। लेकिन होश के दौरान हम मदहोश होकर, अहंकार एवं ममकार से भरे हुए स्वयं कुछ न कुछ करना चाहते हैं। **कार्यक्रम हमने जिस प्रकार निर्धारित किया, वह उस प्रकार नहीं हुआ तो हम उसे विघ्न या अड़चन मान लेते हैं।** स्वाभाविक है, कि हमारा निर्धारित कार्यक्रम ईश्वरीय नहीं था। जीवात्मा ईश्वर का मानस-पुत्र है। यह मानस चार प्रकार का है—विकृत मानस, विकसित मानस, विस्तृत मानस, विशुद्ध मानस। चारों मानस नाम-रूप की देह सहित जगत के रूप में प्रकट होते हैं।

1. **विकृत मानस**–में **'मैं'** (जीवात्मा) ने नाम-रूप की देह पर अधिपत्य, अधिग्रहण व अध्यास कर लिया, कि मैं अमुक-अमुक हूँ और संसार को स्वयं से पृथक् मान लिया। इसमें ही चिन्ता, भय, शोक, त्रास, सुख, दुःख, यश, अपयश, उत्थान, पतन, आधि-व्याधि-उपाधि, वैर-वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष, स्पर्धा, विक्षेप, आवरण आदि व्याधियाँ हैं। ऐसी देह विकृत मानस का प्रतिनिधित्व करती है। (One out of all)

2. **विकसित मानस**–का प्रतिनिधित्व करने वाली देह **'जगत सहित'** होती है। इस देह का अस्तित्व वह मानस है, जिसमें वह सबके सहित अपना भला सोचता है। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** –सभी का भला होने में ही मेरा भला है। (One in all)

3. **विस्तृत मानस**–हे प्रभु ! जब भी, जैसा भी नित नूतन जगत तू बनाए, उसमें सबका हित हो। आदि से अंत तक जितने भी देह सहित जगत बने हैं, उन सबमें **मैं ही, 'मैं'** हूँ, इस भाव में जब जीवात्मा की सिद्धि हो जाती है, तो उसकी देह विस्तृत मानस का प्रतिनिधित्व करती है।

4. **विशुद्ध मानस**–का प्रतिनिधित्व करने वाली देह **'जगत सहित देह'** से रहित होती है। **न वहाँ देह होती है न जगत। देह सहित जगत के होते हुए भी देह व जगत नहीं है। यह स्वयं में विदेह-देह होती है।** कैवल्य समाधि में सिद्ध ऐसे महापुरुष पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, जन्म-मृत्यु आदि भावों को महत्त्व नहीं देते। (None of all)

जिस मानस का देह प्रकाट्य है, वह मानस निराकार एवं अदृश्य है। देह सहित जगत साकार एवं दृश्यमान है और हर क्षण परिवर्तित होता है। **'मैं'** (जीवात्मा) देह सहित जगत रहित, निराकार हूँ। विशुद्ध मैं, देह और भस्मी, तीनों स्वयं में देशातीत, कालातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत, सम्बन्धातीत एवं माया के तीनों गुणों से अतीत है। **'मैं'** की देह के साथ जब नाम-रूप में तद्रूपता हुई, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, तो मैं और देह दोनों विशुद्ध मिलकर **अशुद्ध से** हो गए। यहाँ से यश-अपयश, मान-अपमान, आधि-व्याधि-उपाधि, मल-विक्षेप, आवरण, रोग-दोष, भय-त्रास

आदि शुरू हो गए। देह के कार्यक्रम, देह बनाने वाले ने बनाए थे। देह सहित जगत का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता ईश्वर था, **'मैं'** (विशुद्ध जीवात्मा) मात्र दृष्टा था।

देह **'मैं'** के बिना सक्रिय नहीं होती तथा देह की कोई भी अवस्था **मैं** साथ लगाए बिना प्रमाणित नहीं होती। सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति एवं मृत्यु जड़ता है, क्योंकि उसमें मुझे अपनी सुषुप्ति, विस्मृति, मूर्च्छा एवं मृत्यु का ज्ञान नहीं होता। यदि सुषुप्त को सुषुप्ति का ज्ञान हो जाए, तो वह उसकी जागृति होगी। वह निद्रा, समाधि स्थिति है। सुषुप्ति को जड़ता इसलिए कहा, क्योंकि उसमें मुझे अपना, ईश्वर और उस अवस्था का, किसी का भी ज्ञान नहीं होता।

अवचेतना में **'मैं'** (जीवात्मा) **जड़** भी नहीं होता और **चेतन** भी नहीं होता। नाम-रूप की देह की अवचेतना में **'मैं'** (जीवात्मा) अक्सर ईश्वर विमुख हो जाता हूँ और उसमें फँस जाता हूँ। देह के साथ नाम-रूप की तद्‌रूपता का नाम अवचेतना है। निद्रा की जड़ता में मुझे देह के नाम-रूप की अवचेतना नहीं होती, तदनुसार मेरे लिए देह सहित जगत नहीं रहता और मुझे इस स्थिति का ज्ञान भी नहीं होता। **चेतनता (समाधि) में भी मुझे देह सहित जगत के नाम-रूपों की संज्ञा नहीं रहती और इस स्थिति का ज्ञान होता है।** भाव समाधि में, अपने इष्ट या सद्‌गुरु के ध्यान में, प्राणायाम, कीर्तन, हवन, प्रवचन, भजन समाधि में हम तथाकथित अपनी देह सहित जगत से परे हो जाते हैं और हम अपनी ऐसी अवस्था से जुड़ जाते हैं, जिस अवस्था में कुछ क्षण के लिए हमारी देह सहित जगत का लय हो जाता है।

देह सहित जगत से परे हम मूर्च्छा, निद्रा, मृत्यु की अवस्थाओं में भी होते हैं; लेकिन समाधि में इस अवस्था का दिग्दर्शन व अनुभूति करते हैं। देह सहित जगत जो मेरी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में आते ही प्रकट होता है, उसका लोप ही जड़ता है और लोप ही चेतनता है। जड़ता में देह सहित जगत के लोप का ज्ञान, दिग्दर्शन व अनुभूति हमें नहीं होती, लेकिन समाधि की चेतनता में होती है। यह आनन्द ही आनन्द है। जड़ता और

चेतनता दोनों में प्रारब्ध नहीं बनता। जड़ता में न **'मैं'** अवचेतन होता है, न चेतन होता है। चेतनता में चेतन ही चेतन होता है। **'प्रारब्ध'** अवचेतना में बनता है।

जन्म की मान्यता ही अवचेतना की पुष्टि है। यदि मैंने जन्म को मान्यता न दी होती, तो अवचेतना ही न होती। **'मैं'** (जीवात्मा) अजर, अमर, जन्म-मृत्यु से रहित विशुद्ध ईश्वरीय अंश है। 'मैं पैदा हुआ' जब यह भाव मुझ में आया, तो मैं चेतनता से अवचेतना में पतित हो गया। मेरी हानि हुई या लाभ हुआ, मैं रोगी हूँ या स्वस्थ हूँ, मैं बूढ़ा हूँ या जवान हूँ, मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या शुद्र हूँ, मैं व्यापारी हूँ या ग्राहक हूँ, मैं पापी हूँ या पुण्यी हूँ, मैं अमुक धर्मावलम्बी हूँ आदि वक्तव्य अपनी नाम-रूप की देह के साथ तद्रूपता में होते हैं।

जन्म मेरी मान्यता है। मैं मानता हूँ, मनाता हूँ और मनवाता हूँ तथा फँस जाता हूँ। मेरी प्रत्येक मान्यता अर्धसत्य में है, क्योंकि उसका एक दूसरा स्वरूप भी है, जिसे मैं जाने-अनजाने भूल जाता हूँ अथवा जानबूझ कर उपेक्षित कर देता हूँ। यदि उसके दूसरे पहलू को भी मैं मान लूँ, मना लूँ तो उलझ नहीं सकता। जन्म-मृत्यु, यश-अपयश, पाप-पुण्य, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति पूर्ण जड़ता और चेतनता दोनों में नहीं है। लेकिन अवचेतना में समानान्तर और समान रूप से हैं। जन्म को मानकर मनाते हैं, यदि मृत्यु को भी जीते जी मना लें, तो कभी फँसेंगे नहीं। अवचेतना में जितना भी जगत है, उसमें नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों पहलू समान और समानान्तर रूप से हैं। यह अवचेतना का **'सद्'** है। जब **'मैं'** (जीवात्मा) अपनी जागृति में किसी भी प्रकार से देह सहित जगत से परे होता है और गुरु-कृपा से उस अवस्था का ज्ञान, दिग्दर्शन व अनुभूति करता है, तो उसकी विशुद्ध चेतनता जाग्रत हो जाती है।

जब हम देह की मृत्यु को मना लेंगे, तभी उस चेतन देह में प्रविष्टि व स्थिति की अनुभूति होगी। **'मैं'** देह की अवस्थाओं के बिना नहीं रह सकती। **'मैं'** के प्रकाट्य के लिए यह औपचारिकता है। तो जीते जी **देह की** ऐसी

निश्चित, परिलक्षित एवं दर्शित अवस्था की अवधारणा करनी है, जो अवस्था देह की नहीं है। **वह एक ही है** और वह है–**देह की भस्मी।** अन्य अवस्थाएँ असंख्य और अनिश्चित हैं। हमारी चाहतें अन्य अवस्थाओं के लिए हैं। हमारी चाहतें पूरी होती हैं, लेकिन उसका विपरीत व विरोधी रूप भी उतना ही प्रबल होकर सम्मुख आता है। सद्‌गुरु-कृपा से **'मैं'** (जीवात्मा) देह द्वारा अपने भस्मी स्वरूप की अवधारणा करूँ। उस अवधारणा को हृष्ट, पुष्ट और तुष्ट करूँ तो रूष्ट देह मेरी अपनी होनी शुरू हो जाती है। मैं हूँ और मेरा **कुछ नहीं** है। तुम हो और तुम्हारा **सब कुछ** है। दोनों में **'कुछ'** Common है। मेरा कुछ नहीं है यह मेरी निजता (Individuality) है।

देह के साथ तद्‌रूपता के भ्रम में **'मैं'** (जीवात्मा) देह की प्राप्तियों से अपने व्यष्टिगत अस्तित्व को मानता हूँ, जबकि मेरा अस्तित्व तुम (परमात्मा) से है। देह सहित जगत तुम्हारा है। मैं विशुद्ध जीवात्मा हूँ, जो देह सहित जगत रहित है। देह काल में मेरा सब कुछ मेरी देह भाव में की गई मान्यता और कल्पना है। देह जन्म-मृत्यु की अवधि या काल से बँधी है। इसका स्वामी अकाल (महाकालेश्वर) है। अकाल से बँधी देह का समस्त काल वास्तव में अकाल-काल है। जिसका स्वामी **'अकाल'** हो वह काल हो नहीं सकता, वह अकाल-काल ही होता है। समाधि देह की वह अवस्था है, जिसमें योगी अकाल-काल में विचरण करता है। मेरी देह की वह अवस्था, जिसमें देह अकाल-काल में विचरती है, वास्तव में वही अवस्था मानव-देह की है, शेष सब देहाध्यासवश मेरी थोपी हुई अवस्थाएँ हैं और इन्हीं अवस्थाओं में बनाये गये (स्वार्थवश) हमारे कार्यक्रम अक्सर विघ्नयुक्त होते हैं जिनसे हम निरर्थक आजीवन जूझते रहते हैं। जबकि ईश्वरीय कार्यक्रम पूर्णतया विघ्नमुक्त एवं आनन्दमय होते हैं और उनमें कभी कर्ताभाव नहीं होता।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(6 फरवरी से 16 मार्च, 2008)

अभावमयता

अभावमय स्थिति ही आनन्द है। यह जीवात्मा का अपना सहज स्वरूप है। कोई भी दिन जीवन-काल **में** अन्तिम दिन होता है और जीवन-काल **का** अन्तिम दिन भी हो सकता है। प्रत्येक दिन संध्या काल में मानव देहधारियों के लिए यह चिन्तन आवश्यक है, कि मैंने आज का दिन कैसे मनाया। दीपावली, दशहरा, होली, क्रिसमिस व ईद के त्यौहार तो साल बाद फिर आएँगे, परन्तु यह आज का दिन तो जीवन में फिर कभी नहीं आएगा।

मानव-देहधारियों को जीवन **'जश्न'** (उत्सव या यजन) मनाने के लिए मिला है। वस्तुतः इस जश्न में बाधक मेरा (जीवात्मा का) देहाधिपत्य (देह मेरी है) और देहाध्यास (मैं देह हूँ) ही है। जन्मों-जन्मान्तरों में देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता की पुष्टि पर पुष्टि वस्तुतः मेरी देह धारणा बन गई। **मैं जीवात्मा देह की अवचेतना में 'अभावमय' स्थिति से 'अभाव' में आ गया और यह अभाव ही कालान्तर में मेरा स्वभाव बन गया।** जब तक मैं स्वयं अभाव में रहूगा, अपने सहज आनन्दमय एवं अभावमय स्वरूप से वंचित ही रहूँगा। मुझे किसी भी तरह से अपना वह स्वरूप जाग्रत करना है, क्योंकि वह स्वरूप लुप्त नहीं हुआ, बल्कि देह सहित जगत की अवचेतना में आच्छादित हुआ है।

देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता वस्तुतः एक महा दुर्घटना थी, जिसमें जीवात्मा अपने ईश्वरीय गुणों से वंचित हो गया। अभावमय आनन्द की स्थिति इसका सहज स्वभाव थाः—

'' ईश्वर अंश जीव अविनाशी ! चेतन, अमल सहज सुखराशि।''

अभावमयता की आनन्दमयी स्थिति में जीवात्मा को किसी भी आकार का भाव (मूल्य या महत्त्व) हो ही नहीं सकता था। साकार देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता (मैं अमुक-अमुक हूँ) में यह **अभावमयता** से **अभाव में** आकर चेतन से अवचेतन हो गया। अवचेतनामयी स्थिति में भी अपने उस अभावमय चेतन स्वरूप को भूला नहीं, उसकी स्मृति बनी रही। अतः उस अभाव की स्थिति की यह देह सहित जगत में विभिन्न आकारों द्वारा तथाकथित पूर्ति करने का जन्म-दर-जन्म असफल प्रयास करता रहता है। जब हम **अभाव में** होते हैं, तो हम व्यक्तियों, पदार्थों, वस्तुओं तथा देह सहित जगत की विविध साकार विधाओं को भाव देते हैं। इन्हें भाव (महात्म्य) देने के लिए हमारे मानस में विभिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार **अभावमय** से **अभाव में** आकर निराकार जीवात्मा ने साकार देह के साथ तद्‌रूपता में देह सहित जगत की साकार विधाओं को जिन विभिन्न भावों से भाव (मूल्य) दिया, उन्हें **'चाहत'** या **'एषणा'** कहते हैं। साकार देह के साथ तद्‌रूपता में निराकार मानस में अदृश्य रूप से व्याप्त इस मानसिक विश्रंखलता को जाने-अनजाने उपेक्षित करते हुए हम आकारों की वृद्धि में तथाकथित कर्मठ बने रहते हैं। मैं मानवीय निरर्थक एवं अनर्थक कर्मों के इस श्रुतिगम्य परम रहस्य का सविस्तार वर्णन करूँगा। कृपया एकाग्र करें।

परमात्मा और जीवात्मा दोनों निराकार व अदृश्य हैं। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है और परमात्मा के साथ इसका अद्वैत में **द्वैत सा** है। जीवात्मा स्वयं में पूर्ण एवं आनन्द का स्रोत है। इसे साकार सृष्टि की किसी भी वस्तु के प्रति भाव (मूल्य) नहीं है, इसलिए स्वयं में अभावमय है। इसे दी गई मानव-देह पंच-महाभूतों की समस्त सृष्टि की प्रतिनिधि, संघनित रूप एवं प्रत्यक्ष साकार प्रकाट्‌य है। जो परमात्मा द्वारा रचित, पालित व संहारित सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। महादुर्भाग्यवश, अज्ञानवश, जाने-अनजाने इसे मानव-देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता हो गई। जैसे ही जीवात्मा ने साकार देह के साथ तद्‌रूपता की स्थिति में किसी साकार विधा को भाव से

भाव दिया, तो उस भाव की प्रथम प्रतिक्रिया इसके मानस में यह हुई, कि उस वस्तु (आकार) के प्रति इसमें **'आकर्षण'** पैदा हो गया। उस आकर्षण के कई कारण थे। **'आकर्षण'** शब्द में **आकार, कारण, एषणा एवं कृष्ण** शब्द छिपे हैं। आकार की एषणा बहुत से कारणों से हुई। यह देह व जीवन को अधिक से अधिक सुखमय, सुविधायुक्त, ख्यातियुक्त, सौन्दर्ययुक्त, सशक्त एवं ऐश्वर्यपूर्ण बनाकर अपनी अभाव **में** स्थिति की किसी भी प्रकार और हर प्रकार से पूर्ति करना चाहता था। विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों, धन-सम्पदा, डिग्रियों, जन-बल आदि द्वारा देह के मान-सम्मान, ख्याति, परिचय, प्राप्तियों, प्रमाण, प्रतिष्ठा, पूर्णता तथा विभिन्न परिस्थितियों के लिए पागलपन की हद तक जीवात्मा आकर्षित होने लगा। इस प्रकार साकार विधाओं की एषणा का वह **'भाव'** आकर्षणयुक्त होकर इसके **'कर्ताभाव'** में रूपान्तरित हो गया। मुझे अमुक आकार की प्राप्ति के लिए कुछ करना चाहिए, बिना किए कैसे होगा?

हर प्राप्ति इसे देह की ही तरह स्वतः प्राप्य थी और प्रकट होनी थी। क्योंकि देह सहित साकार जगत की प्रत्येक विधा इसके लिए थी। जैसे देह इसके लिए प्रकट हुई, उसी तरह समय-समय पर साथ-साथ, स्वतः तद्नुसार जगत भी प्रकट होता है। कर्ताभाव आते ही स्वयं को नाम-रूप की देह में एक व्यक्ति मानते हुए इसने (जीवात्मा ने) समस्त जगत को पृथक् मान लिया। मूलतः यह तद्रूपता जगत सहित देह के साथ हुई थी, क्योंकि अवचेतना में भी स्वयं में देह, जगत के बिना नहीं होती और जगत, देह के बिना नहीं होता। लेकिन जब वह कर्ता भाव में उतरा तो अपनी समष्टि से वंचित हो गया। यहाँ से जीवात्मा की अनन्त अधोगति प्रारम्भ हो गई। अभावमय से अभाव में उतर कर उस अभाव में स्थिति की पूर्ति के लिए आए कर्ता भाव से जगत और इसकी देह पृथक्-पृथक् हो गई। यह जीवन के अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के सोपानों पर जन्म-दर-जन्म उत्तरोतर अधोगति को प्राप्त होने लगा।

कर्ताभाव ने इसमें तुच्छ अहं पैदा कर दिया और इसके भाव विकृत हो

गए। जीवात्मा का अभावमय स्वरूप निराकार था। देह के साथ तद्‌रूपता में अभाव **में** मानसिक स्थिति निराकार थी। आकार को दिया जाने वाला भाव (चाहत या इच्छा) निराकार था। आकार के प्रति आकर्षण व उसके कारण निराकार थे और कर्ताभाव भी स्वयं में निराकार था। कर्ताभाव में घर्षण हुआ। मुझे प्राप्त करना है, मेरे बिना यह कैसे होगा, मैं अवश्य करूँगा और करके दिखा दूँगा। इस घर्षण से जिन भावों से वह विकृत हुआ वे ईर्ष्या, द्वेष, भय, त्रास, विक्षेप, चिन्ता, असुरक्षा की भावना, लोभ, वैर-वैमनस्य, लालच, छल-कपट आदि-आदि भाव भी स्वयं में निराकार थे। अपने मन के आन्तरिक जगत की इन सूक्ष्म, निराकार एवं अदृश्य विधाओं के खेल को हम न जानते हैं और न जानना ही चाहते हैं। यह आन्तरिक और अदृश्य स्पंदन हैं, जो हमें अधोगति की ओर ले जाते हैं, क्योंकि आजीवन साकार वस्तुओं की प्राप्ति ही हमारा एकमात्र लक्ष्य बना रहता है।

समष्टिगत तौर पर **स्वतः होने वाले** कृत्यों को उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जीवात्मा ने स्वयं को एक व्यक्ति मानते हुए करना प्रारम्भ कर दिया। देह के साथ तद्‌रूपता के कारण जीवात्मा ने विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए कर्ताभाव में योजना बनानी और अनेक प्रयत्न करने शुरू कर दिए। इसके कारण इसकी समस्त समष्टि जो इसकी देह के साथ स्वतः, साथ-साथ और तद्‌नुसार प्रकट होती है; उसमें यह दुराव-छुपाव, छल, कपट, ईर्ष्या, वैर, स्पर्धा, द्वेष, वैमनस्य आदि रखने लगा। कर्ताभाव was embeded, imposed and surrounded byविकार। एक तो यह स्वयं में अकेला हो गया और कर्ताभाव के साथ स्वतः अनेकानेक विकार जुड़ गए। इन्हीं विकारों से घिरे रहते हुए संघर्षपूर्वक इसने वह वस्तु प्राप्त की, जो इसे प्राप्य थी और समय पर इसके लिए प्रकट होनी ही थी। उस वस्तु को पाकर यह प्रभावित हुआ, इसकी बांछे खिल गई। इसका भाव, प्रभाव बन गया। विशिष्ट समय पर जब प्राप्ति हुई, तो इसके कर्ताभाव के साथ जो निराकार विकार (चिन्ता, वैर आदि) जुड़े हुए थे, वे भी साकार रूप में धारण करके उस आकार के साथ प्रकट हो गए। कई विरोधी, ईर्ष्यालु, वैरी, द्वेष करने वाले, लालची, लोभी,

कपटी, भयभीत व लूट-खसोट करने वालों ने उस प्राप्ति (आकार) का आकर्षण समाप्त कर दिया। भाव पर भाव हुआ और वह **प्रभाव** ही तब **दुर्भाव** बन गया। हम अपनी एक स्थिति से परिवर्तन चाहते हैं। वह परिवर्तन हो जाता है, तो उस स्थिति से ऊब कर अन्य परिवर्तन चाहते हैं।

दुर्भाव, प्रभाव पर हावी हो गया और यह अपनी ही वस्तु के भोग से वंचित होकर तनावित और निराश हो गया। अभाव में होना जीवात्मा का भ्रम था। अतः यह **अभाव में सा** होता है। यह एक मानसिक स्थिति है, जो दृश्यमान नहीं होती। इसका पूरा **सा** होना भी भ्रम था और वह भी एक मानसिक स्थिति है। सारा खेल निराकार का है और भ्रम में है। यदि निराकार का खेल भ्रम में न होता, तो जीवात्मा आकार को भाव (मूल्य या महत्त्व) ही न देता। जो स्वयं में परिपूर्ण है, वह अभाव **में सी** स्थिति को पूर्ण **सा** करने के लिए, आकार **से** की आकांक्षा करता है; इसलिए आजीवन असंतुष्ट **सा** ही रहता है। **'भ्रम'** में भ्रमित **सा** होना बहुत घातक स्थिति है। इसके साथ यह घटना जब बार-बार घटने लगी, तो **'अभाव'** ही इसका **'स्वभाव'** बन गया। जीवन के अंत में अभाव का स्वभाव लेकर हमारी देह छूट जाती है और पुनः अभावयुक्त स्वभाव को लेकर ही हम पैदा होते हैं। यही हम सबका जीवन है, जिसे हम जन्म-दर-जन्म युगों-युगान्तरों से ढो रहे हैं।

किसी विशिष्ट जन्म में वह पार ब्रह्म परमेश्वर सद्‌गुरु के रूप में प्रकट होकर जीव बने जीवात्मा की अभावमयता को Regain, Reinstitute और Resume करने में सहायक होता है। सद्‌गुरु कहता है, कि "तेरी ही देह का एक परिवर्तन (भस्मी) है, जो निश्चित, दर्शित व परिलक्षित है, तूने उसके बारे में कभी चिन्तन ही नहीं किया। तूने कैसी देह धारणा की? तेरी **एक विशेष देह का** वह परिवर्तन तेरी एक **देह विशेष** का नहीं है; वह सभी देहों का है। तेरी देह **में** सभी परिवर्तन, परिवर्तन **से** होते हैं और आगे फिर परिवर्तित होते हैं। भस्मी तेरी देह का एक ही परिवर्तन है, जो परिवर्तन **से** तो है, लेकिन न आगे परिवर्तित होगा न पीछे। साथ ही **देह का यह अपरिवर्तनीय परिवर्तन सभी देहों का है। यह देहातीत (जब देह अतीत की वस्तु हो जाती है) और देहातीत (साकार देह सहित जगत की समस्त विधाओं से अतीत)**

है। तू जीवन-काल में अपनी देह के रहते देह-धारणा पर उसकी अवधारणा कर, कि मैं भस्मी हूँ। जब तू देहयुक्त होकर अवधारणा करेगा कि 'मैं भस्मी हूँ' तो तेरी देह, विदेह-देह हो जाएगी, क्योंकि वह परिवर्तन देहातीत और देहातीत है।''

''मैं भस्मी हूँ और भस्मी मेरी है के भाव से देह की परिवर्तनशीलता का सद् तुझे आत्मसात् हो जाएगा। तुझे देह की परिवर्तनशीलता की धारणा हो जाएगी और देह में परिवर्तनों की चाहत ही निर्मूल हो जाएगी। अभी तक तू आकारों की चाहत के पीछे भाग रहा था, अब तुझे आकार पर अधिकार हो जाएगा और आकारों को तेरा आकर्षण हो जाएगा। तू **अभाव में** से पुनः अभावमय स्वरूप में प्रविष्टि पा लेगा।'' अभावमयता से ओत-प्रोत आनन्दमय मानसिकता का प्रकाट्य जश्न या यजन के रूप में होता है। जश्न से मन का आनन्द और बढ़ता है तथा उस उल्लास को हम अपने परिवेश में बाँट सकते हैं। अभावमयता से युक्त आनन्दमय मानस ही संकर्षणयुक्त होता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(4 एवं 5 अप्रैल, 2008)

अदृश्य

जीवन की दो धाराएँ हैं। एक धारा में देह **के लिए ही** जिया जाता है, जो मानव-देह पाकर भी पशुवत् जीवन है। दूसरी धारा में **देह काहे के लिए है,** के लिए जिया जाता है, यही वास्तविक जीवन है। **जीवन**' शब्द '**जीव**' और '**न**' से मिलकर बना है। '**मैं**' (जीवात्मा) जीव नहीं हूँ, तो मैं कौन हूँ? मुझे देह सहित जगत की विविध विधाएँ किसलिए मिली हैं? '**सब कुछ**' प्रभु का है और मेरा '**कुछ नहीं**' है। मेरा '**कुछ नहीं**' (भस्मी या वैराग) मेरे पास नहीं है। जब तक मुझे मेरे '**कुछ नहीं**' (भस्मी) की अनुभूति नहीं होगी, तब तक '**मैं**' (जीवात्मा) देह सहित जगत (प्रभु के सब कुछ) का भोग और आनन्द नहीं ले सकता। मैं हूँ और मेरा '**कुछ नहीं**' है; यह परम सद् अनुभूतिगम्य होना ही मानव-जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है। जीवात्मा को उसका '**कुछ नहीं**' प्राप्य है, क्योंकि उसे मिली मानव-देह में पंच-महाभूतों के साथ अदृश्य भस्मी समाहित है। इस प्राप्य की प्राप्ति की, देह द्वारा, देह में और देह के लिए, स्वीकृति, प्रामाणिकता एवं सत्यापन हो जाए, इसलिए मुझे (जीवात्मा को) मानव-देह मिली है।

मानव-देह मेरी नहीं है, मेरे लिए है। जीवन की पहली धारा के अन्तर्गत जब '**मैं**' (जीवात्मा) '**देह के लिए**' जीता हूँ, तो जो देह मेरे लिए है, वही मुझसे रुष्ट हो जाती है। दूसरी धारा में सद्गुरु-कृपा से जब मैं देह काहे के लिए है? के लिए जीता हूँ, तो मुझे अनुभूति हो जाती है, कि मैं निराकार व अदृश्य जीवात्मा हूँ और देह सहित जगत मेरे लिए है। **जीवात्मा** (मैं) अदृश्य व **निराकार** है और **मानव-देह साकार** व दृश्यमान है। जीवात्मा ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है। स्वयं में परिपूर्ण, अभावमय आनन्द से ओत-प्रोत

निराकार **'मैं'** जब साकार मानव-देह से स्वयं को नाम-रूप में पहचानता हूँ, तो **अभावमय** से **अभाव में** हो जाता हूँ। मैं चेतना से अवचेतना में पतित होते हुए **अभाव में** आकर असंख्य एवं अगणित चाहतों में घिर जाता हूँ। जीवन **में** चाहतें अनेकानेक होती हैं और परिवर्तित होती रहती हैं। जीवन **में** समस्त चाहतों की विशिष्टता यह है, कि वे चाहतों के समान ही परिवर्तित होती रहती हैं। लेकिन **अपरिवर्तनीय की चाहत भी स्वयं में अपरिवर्तनीय होती है।** The want of invariable in itself is invariable. यदि वास्तव में उस शाश्वत्, परम स्थिर, अपरिवर्तनीय की चाहत हो गई तो वह चाहत भी बदलती नहीं है।

देह को अपना स्वरूप मानकर जीवात्मा, देह में विभिन्न चाहतों में भटकने लगा क्योंकि वह अभाव में आ गया। चाहतें स्वयं में अदृश्य एवं निराकार हैं। किसी को देखकर यह नहीं जाना जा सकता, कि वह क्या चाहता है। लेकिन उसकी चाहत चाहे प्राणी, पदार्थ अथवा इनसे सम्बन्धित विधा की हो, वह साकार एवं दृश्यमान होती है। उस चाहत के साकार में प्रकट होने के बाद क्या होगा या क्या होता है, वह भी अदृश्य ही रहता है। चाहे किसी वस्तु की प्राप्ति की चाहत हो अथवा किसी से छुटकारा पाने की चाहत हो। निराकार व अदृश्य चाहत साकार दृश्यमान वस्तुओं से पूरी नहीं हो सकती। वस्तुतः जीवात्मा अपनी वह मूल स्वरूपगत **'अभावमय'** मानसिक स्थिति चाहता है, जिसमें वह कुछ नहीं चाहता। देह के साथ तद्‌रूपता में जो भी वह चाहता है, वह एक निराकार मानसिक स्थिति है। साकार में जब चाहत का प्रकाट्य होता है, तब भी कुछ न कुछ चाहने वाली निराकार मानसिक स्थिति बनी रहती है। उदाहरणतः फिल्म की रील का स्क्रीन पर प्रस्तुतिकरण हुआ तो प्रस्तुतिकरण के बाद रील तो बनी रहती है। इसी प्रकार देह के साथ तद्‌रूपता में जीवात्मा अभाव **में** ही रहता है। कुछ न कुछ, कभी कुछ कभी कुछ, कभी कम, कभी अधिक चाहता ही रहता है। साकार में प्रकटीकरण के बाद एक मानसिक स्थिति पर दूसरी मानसिक स्थिति बनी रहती है। निराकार मानसिक स्थिति रूपी रील में चाहतें उठती

हैं और साकार प्रकाट्य का प्रभाव होता है। इस प्रभाव से दूसरी मानसिकता का अंकन हो जाता है। इस प्रकार इच्छा के साकार प्रकाट्य के बाद उस निराकार मानसिक स्थिति वाली रील में और चाहतें जुड़ जाती हैं।

देह सहित जगत विभिन्न नाम-रूपों में साकार (आकार सहित) है। किसी आकार का भोग करने के लिए उस पर **'अधिकार'** होना बहुत आवश्यक है। किसी भी वस्तु का भोग मैं तभी कर सकता हूँ, जब मुझे उसका कोई महात्म्य नहीं होगा। देह सहित जगत की किसी भी विधा, वस्तु, प्राणी अथवा व्यक्ति का हमारे मन में **भाव** (मूल्य या महत्त्व) होना; उससे पड़े **प्रभाव** का द्योतक है। भाव और प्रभाव दोनों निराकार हैं। **'भाव पर भाव'** को **'प्रभाव'** कहते हैं। प्रभाव इसलिए हुआ, क्योंकि बीच में **'आकार'** आ गया। देह के साथ तद्रूपता के कारण जीव भाव में मेरे मन में किसी आकार प्रति भाव उठा, जो साकार रूप में प्रकट हुआ, तो उस आकार ने उसी मानस को प्रभावित कर दिया, जिसमें भाव उठा था। मैं उस साकार प्रकाट्य से संतुष्ट और प्रसन्न भी हो सकता हूँ, दुःखी और त्रसित भी हो सकता हूँ। अतः वस्तु के प्रकाट्य से अधिक मेरे लिए यह **'प्रभाव'** महत्त्वपूर्ण है।

भाव को जब मैं अपना मान लेता हूँ, कि मेरा भाव या मेरी इच्छा है, तो मानस का यह निराकार भाव मुझे कर्ताभाव की ओर ढकेलता है। इसके साथ चिन्ता, तनाव, ईर्ष्या, स्पर्धा, वैर, त्रास, भय आदि कई अदृश्य विकृतियाँ निराकार रूप से मानस में प्रस्फुटित हो जाती हैं। इच्छा जब आकार रूप में प्रकट हो जाती है, तो वह मेरे लिए प्रकाट्य न होकर कर्ता भाव में संघर्ष करके की हुई प्राप्ति होती है। **जो प्राप्य था उसकी मैंने प्राप्ति की।** जैसे भाव या इच्छा स्वतः उठी थी, उसी प्रकार उसके लिए कुछ न कुछ मेरे द्वारा भी करवा लिया जाता और समय पर मेरे लिए वस्तु प्रकट हो जाती। लेकिन मैंने भाव या इच्छा पर अधिपत्य किया, इसलिए मैं कर्ताभाव में आ गया। मैं प्राप्य के प्रकाट्य को जीव भाव में प्राप्ति मान बैठा। कुछ देर के लिए मैं प्रसन्न हुआ। मुझे प्राप्ति आकार रूप में हो गई, तो उस साकार की प्राप्ति के साथ कर्ताभाव के कारण उत्पन्न चिन्ता, तनाव, द्वेष, भय आदि

अदृश्य व निराकार मानसिक विकृतियाँ भी साकार रूप लेकर प्रकट हो गईं। क्योंकि जब यह भाव आ गया, कि मैंने प्राप्ति की है तो भाव, भाव नहीं रहता वह प्रभाव बन जाता है। यह कर्ताभाव दैवीय दृष्टि में अपराध है।

पहले मेरे मन में **'भाव पर भाव'** यानि प्रभाव हुआ लेकिन भय, चिन्ता आदि विकृतियों के कारण **'भाव दर भाव'** यानि **दुर्भाव** हो गया। **भाव, प्रभाव** और **दुर्भाव** तीनों अदृश्य व निराकार हैं। एक साकार दृश्य ने प्रभाव डाला था, उसी ने प्रभाव को दुर्भाव में रूपान्तरित कर दिया। **प्रभाव 'भाव पर भाव' यानि 8+8=16 हुआ था और दुर्भाव 'भाव दर भाव' 8x8=64 हो गया।** More we gain and much more we are dis-satisfied. गिलास संघर्ष करके लोटा बन गया, तो लोटे में 4 गिलास पानी भर गया तो प्रसन्नता रूप में उसका प्रभाव चार पर चार (4+4+4+4=16) हुआ। उसने बाल्टी देखी, जिसमें 8 लोटे जल की क्षमता थी। बाल्टी को देखने पर वह लोटा जो गिलास से चौगुना होकर बहुत प्रसन्न था, उसकी असंतुष्टि चार दर चार (4x4x4x4=256) हो गई। 256 असंतुष्टि दुर्भाव में रूपान्तरित हो गई। हम जीवन में जो तथाकथित विकास कर रहे हैं, वह दुर्भाव के कारण वस्तुतः ह्रास या harresment का कारण ही बन रहा है।

जीवन में सभी प्राप्तियाँ हमें प्राप्य हैं। समय-समय पर उनका प्राकाट्य होना ही है। मुझे वह प्राप्ति इसलिए लगती है, क्योंकि मैंने जीव भाव में स्वयं को कर्ता मान लिया। इस कर्ताभाव के कारण प्राप्ति मानो चौगुनी हुई तो असंतुष्टि 4 दर 4 अवश्य होगी। प्राप्ति दिखाई देती है, लेकिन असंतुष्टि अदृश्य रहती है। प्रभाव (भाव पर भाव) इस दुर्भाव द्वारा फिर प्रभावित होगा। यह हमारे द्वारा की जाने वाली प्राप्तियों का खेल है। इन प्राप्तियों में मेरी देह भी है, जिसे प्राप्त करने के लिए **'मैं'** (जीवात्मा) ने कुछ नहीं किया और उत्कृष्टतम बुद्धि से मैं अपनी देह का एक बाल, एक नाखून तक नहीं बना सकता। **देह पर अधिपत्य व अध्यास के कारण 'मैं' (जीवात्मा) ब्रह्ममय से भ्रममय हो जाता हूँ।** जन्म-दर-जन्म प्राप्य की प्राप्तियों में जीवन व्यर्थ तो करता ही रहता हूँ, लेकिन इतने पर मेरा छुटकारा नहीं होता। क्योंकि मानव-देह

पाकर दैवीय दृष्टि से अपराधी घोषित हो जाता हूँ और महाकाल की 1008 धाराओं के अन्तर्गत (Under Divine Penal Code) सज़ाएँ भुगतता रहता हूँ।

इस काल-चक्र से बाहर आने के लिए मुझे (जीवात्माऽको) मानव-देह मिली है। लेकिन दुर्भाग्यवश हम जन्म-दर-जन्म देह के लिए ही प्राप्तियों में भटकते रहते हैं। वस्तुतः देह हमें इसलिए मिली है, कि हम जान जाएँ कि देह सहित जगत हमारे लिए है। देह सहित जगत साकार है और **'मैं'** (जीवात्मा) निराकार हूँ। **'मैं'** (जीवात्मा) ने अज्ञानवश, भ्रमवश साकार देह के साथ नाम-रूप में तद्‌रूपता कर ली और **देह के निराकार के** साथ नहीं की। देह के अनाम व अरूप (निराकार) से स्वयं को नहीं पहचाना। किसी भी वस्तु का सार तत्त्व ग्रहण करने लिए लोम-विलोम मन्थन किया जाता है। **हर आकार का निराकार है और इस निराकार की अनुभूति के बिना आकार पर अधिकार मिलना असम्भव है।**

जितना भी दृश्यमान साकार जगत है, वह निराकार मानस रूपी पर्दे पर चलते चलचित्र के समान है। किसी फिल्म को देखने और इस जगत को देखने में बहुत अन्तर है? एक फिल्म को यदि हम दस बार देखेंगे तो वही फिल्म आएगी, लेकिन यह मानस रूपी स्क्रीन और इस पर चलता चलचित्र नित्य नूतन है। जगत हमारे भाव की प्रस्तुति है। जब हम प्रस्तुत जगत को देखते, सुनते, सूँधते, छूते और चखते हैं तो हमारे **'भाव पर भाव'** यानि प्रभाव पड़ता है। भाव निराकार था उसकी साकार प्रस्तुति का प्रभाव पड़ा जो हमारे मानस में रिकार्ड हो जाता है। इसलिए अगले दिन हम जो देखते हैं, वह पहले दिन जैसी प्रस्तुति या प्रकाट्य नहीं होता। क्योंकि वह भाव का नहीं प्रभाव का प्रकाट्य होगा। कोई भी घटना जब दोबारा घटेगी तो वह प्रभाव से प्रभावित हुई-हुई होगी।

जगत का यह मायिक प्रपंच हमारे मानस को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। इसलिए **जीवन में कभी भी और कोई भी दो दिन एक जैसे नहीं होते।** चाहे हम एक ही दुकान या दफ्तर में जाएँ, एक ही घर में उसी परिवार के साथ रहें, ये दृश्य पृथक् होते हैं। हमारा मानस भावों की हर प्रस्तुति से

प्रभावित होता है। हर भाव प्रकट नहीं होता। भावों के अभ्युदय और प्रकाट्य में एकरूपता हो, ये भी आवश्यक नहीं है। हम संसारी लोगों की सम्पूर्ण दौड़ साकार की ओर रहती है। हम अपनी देह व उस पर आधारित जगत के लिए विभिन्न प्राप्तियों में आजीवन ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को झोंकते रहते हैं और **'मैं'** और **'मेरा'** में ही जीवन समाप्त हो जाता है।

आकारों की इच्छा स्वयं में निराकार व अदृश्य है, लेकिन हम जो चाहते हैं वह दृश्यमान और साकार है। जो कुछ हम चाहते हैं उसके साथ भविष्य खड़ा हो जाता है। वह भविष्य भी निराकार है। अतीत में मैं जो चाहता था वह कुछ पूरा हुआ, कुछ नहीं हुआ। अब मैं जो चाहता हूँ, उसकी पूर्ति के लिए अतीत में हुए अनुभवों का आश्रय लेता हूँ। मेरी अपनी किसी चाहत के साथ कुछ चिन्ताएँ अवश्य होती हैं। ये चिन्ताएँ भी अदृश्य एवं निराकार रूप से मानस का अंग बनी रहती हैं। इस प्रकार तीन निराकार हैं—चाहतें, भविष्य और चिन्ता और जिस वस्तु, प्राणी या विधा की चाहत है, वह साकार है।

किसी आकार का आकर्षण होने पर यदि हमें कृष्ण (प्रभु) का ध्यान आ जाए, तो **'आकर्षण'** शब्द में छिपे **आकार, कारण** और **एषणा** तीनों **कृष्णमय** हो जाएँगे। **आकर्षण** शब्द में सबसे अधिक ध्वनि **'आ कृष्ण'** की ही है। कोई भी एषणा, उसका कारण और आकार यदि **कृष्ण** (प्रभु) से जुड़ गया, तो उसमें मेरी लिप्तता नहीं रहेगी। इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल प्रभु ही होंगे। ''हे प्रभु ! मैं नहीं जानता कि जिस आकार की मुझे चाहत है, उसकी प्राप्ति के बाद मुझ पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। मैं इसके प्रति आकर्षित हो गया हूँ, कहीं वह प्राप्ति मुझे तुमसे दूर न कर दे।'' यदि कोई भाव उठते ही यह भाव हो जाए, तो यह भाव पर भाव किसी अन्य प्रभाव को पड़ने नहीं देगा।

हम बुद्धिजीवी मानव यह समर्पण करना ही नहीं चाहते और किसी भी आकार का आकर्षण होते ही कर्ता भाव में किसी भी प्रकार से उसकी प्राप्ति के लिए लालायित हो जाते हैं। इस कर्ताभाव के कारण पहला अनिष्टकारी

प्रभाव यह पड़ता है, कि मैं अपनी कुल समष्टि से कट जाता हूँ। कोई भी कार्य व्यक्तिगत नहीं है। कोई भी कार्य समस्त प्रकृति सहित हमारी कुल समष्टि के साथ ही सम्पन्न होता है। आर्थिक स्तर, मानसिक स्थिति, शारीरिक, पारिवारिक स्थिति, देश-काल, समाज की स्थितियों का कोई भी अंग मेरे हाथ में नहीं होता।

जब मैं सोता हूँ तो मेरे साथ मेरा पूरा जगत भी सोता है और जब मैं उठता हूँ तो मेरे साथ मेरा उस समय का पूरा जगत उठता है। जब मैं कोई सांसारिक व्यवहार करता हूँ तो मेरे साथ मेरा पूरा जगत होता है। इसलिए मेरा कोई भी कृत्य व्यक्तिगत नहीं हो सकता। यह जगत मानस में स्वतः उठे भावों की प्रस्तुति है; भाव हमारे नहीं हैं, बल्कि होने वाली प्रस्तुति के अनुसार उठाए जाते हैं। जो पहले हुआ वह होना ही था, आगे जो होगा वह भी स्वतः ही होगा। महादुर्भाग्यवश हम स्वतः प्रस्तुत जगत में स्वयं कर्ता बन जाते हैं। मैंने सोचा, मैंने किया के भाव घातक रूप से हमारे मानस को प्रभावित करते हैं। सौ प्रतिशत कामों में हम स्वयं ही बाधा बने रहते हैं। **हम अपने द्वारा डाली गई बाधाओं को स्वयं बाधा बनकर बाधापूर्वक तथाकथित हर रहे हैं। जो मैं (अहंवश) कर रहा हूँ वह बाधा सहित है और जो मुझसे (प्रभु इच्छा से) करवाया जा रहा है वह बाधा रहित होता है।**

हर दिन जो प्रकाट्य होता है वह पहले से ही निराकार मानस में पूर्व अंकित व रिकार्ड हो चुकी घटनाओं की यथावत् प्रस्तुति होती है। हम मानस की निराकार रिकार्डिंग नहीं देखना चाहते। साकार प्रस्तुति से प्रभावित होते हुए सुखी-दुःखी होते रहते हैं और हमारे मानस का आनन्द आच्छादित ही रहता है। यदि हम साकार का निराकार नहीं देखेंगे तो अपनी पूर्ण समष्टि से कटे ही रहेंगे। हम स्वयं कर्ता बन जाएँगे और इस कर्ता भाव के साथ चिन्ताएँ भी लगी रहेंगी। हम सब जानते हैं, कि हमें हमारी अपनी देह बनी बनाई मिली है। हमें अपनी साकार मानव-देह की निराकार वास्तविकताओं (सद्) को अनुभूतिगम्य करना होगा, जिसके बिना इसका सदुपयोग तो क्या उपयोग भी नहीं हो सकता, जो होगा वह मात्र दुरुपयोग ही होगा। जब होश

सम्भाला तो देह सहित जगत हमें प्राप्य ही था। अपनी देह के निर्माण, पालन-पोषण में मेरा अपना कोई कार्य नहीं था। माँ के गर्भ में नौ महीने में एक सैल से सम्पूर्ण मानव-देह का निर्माण हुआ, जो किसी भी मानवीय बुद्धि की सोच से परे की घटना थी।

साकार देह का निराकार अदृश्य है। अपनी साकार देह सहित जगत की प्रस्तुति से हम भ्रमित होते हुए प्रभावित होते हैं और यह प्रभाव दुर्भाव बनकर हमें हमारे जीवन के आनन्द से वंचित कर देता है। भगवान कृष्ण ने महाभारत के युद्ध से पूर्व गीतोपदेश के दौरान अपने विराट स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए अर्जुन को यही ज्ञान दिया, कि "युद्ध का समस्त घटनाक्रम पहले से ही मैं (भगवान कृष्ण) रच चुका हूँ। जिन्होंने जब, जिसके द्वारा मारा जाना है वह हो चुका है। तू इस साकार प्रस्तुति में भ्रमित मत हो और अपनी समस्त धारणाओं और मान्यताओं को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे मुक्त कर दूँगा। तू मात्र वही कर्म कर, जो मैं तुझसे करवा चुका हूँ। अब तू जो कर रहा है उसका भी दृष्टा बन, कर्ता मत बन। क्योंकि तू वही करेगा जो मैं तुझसे करवा चुका हूँ।" भगवान ने विराट स्वरूप में दिखा दिया कि सब कुछ करने कराने वाला मैं (परमात्मा) हूँ।

सारा खेल निराकार का है, **'मैं'** (जीवात्मा) दृष्टा है। जब मैं अपनी देह द्वारा होते हुए कृत्यों को अपने द्वारा किया हुआ मान लूँगा, तो दृष्टा कैसे रहूँगा? इसके लिए मुझे निराकार स्थिति को देखना होगा, जिससे देह सहित जगत की प्रस्तुति होती है। यदि मात्र साकार को देखूँगा, तो मुझे समस्त जगत अपने से पृथक् भासेगा और **मैं दृष्टा से कर्ता बन जाऊँगा।** प्रकट जगत में देह सहित जगत के समस्त साकारों का निराकार एक ही है। अनेक नामों के पीछे एक नाम है, वह है मेरा इष्ट या सद्‌गुरु, जो समस्त अंकन पहले ही कर चुका है।

निराकार में प्रत्येक कर्म की रूपरेखा बनती है, जिनका उद्‌गम स्रोत मात्र ईश्वर ही है। **किसी कर्म को करने से पहले मन में उत्साह एवं उल्लास हो, कार्य के दौरान स्वतः भाव से आनन्द में समस्त प्रबन्ध होता**

जाए और कार्य समाप्त होने के बाद मानसिक स्थिति आनन्दमय हो, तो समझना चाहिए कि कार्य, पूर्ण रूपेण ईश्वर-इच्छा से उसकी शक्ति, कृपा एवं सहयोग से हुआ है। ऐसे कृत्यों में कुछ प्राप्ति न भी हो तो मानस आनन्दमय बना रहता है। साकार में देखेंगे तो कर्ताभाव आएगा। शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा दोनों देखेंगे और यदि निराकार में देखेंगे, तो हर स्थिति एवं घटना का आनन्द लेंगे। महापुरुष निराकार देखते हैं, इसलिए उनके द्वारा किए हुए कार्य हुए-हुए होते हैं।

आत्मज्ञान व अध्यात्म निराकार का विज्ञान है जो हमेशा से **'सद्'** है और रहेगा। निराकार एक ही है। साकार के वैज्ञानिक सिद्धान्त अनेकानेक आकारों के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। **जब हम निराकार को उपेक्षित करते हैं, तो आकार का विज्ञान एवं गुण, धर्म निराकार के विपरीत हो जाते हैं।** हम मानव अपनी देह के साथ नाम-रूप के अध्यास के साथ ही होश सम्भालते हैं, क्योंकि जन्मों-जन्मान्तरों से हुई देह के साथ नाम-रूप में तद्रूपता परिपुष्ट होकर हमारी देह-धारणा बन चुकी है। देह साकार है, लेकिन हम सबकी **'मैं'** (जीवात्मा) निराकार है। **'मैं'** कभी भी स्वयं को देह से पृथक् नहीं पाता। जब भी **'मैं'** शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो नाम-रूप की अवचेतना में देह साथ होती ही है। **'मैं'** का शब्द रूप में प्राकट्य देह के बिना कभी नहीं होता और जहाँ **'मैं'** शब्द नहीं होता, वहाँ मेरे लिए देह सहित जगत की कोई भी विधा नहीं होती।

सुषुप्तावस्था में यद्यपि देह होती है और **'मैं'** भी होता हूँ, लेकिन मैं सोया हुआ हूँ, नहीं कह सकता। क्योंकि निद्रा की जड़ता में मेरे लिए न देह होती है, न **'मैं'** होती है, इसलिए मेरे लिए, मेरा कोई संसार भी नहीं होता। इसी प्रकार मूर्च्छा, विस्मृति एवं मृत्यु में भी ऐसा ही होता है। यदि तथाकथित जाग्रतावस्था में मैं अपनी निद्रा, मूर्च्छा, विस्मृति और मृत्यु की मानसिक अवस्थाओं पर एकाग्र करूँ, तो भले ही देह सुषुप्त, मूर्च्छित, विस्मृत या मृतक हो, पर नाम-रूप की साकार देह अवश्य होगी। जन्म से लेकर शवावस्था तक साकार देह रहती है। **मेरी देह की भस्मावस्था ही ऐसी अवस्था है,**

जिस पर एकाग्र करने में नाम-रूप की मेरी देह नहीं होती। यदि मेरी नाम-रूप की साकार देह होगी, तो भस्मावस्था नहीं हो सकती।

'मैं' (जीवात्मा) की देह के साथ तद्‌रूपता हुई और देह के प्रत्येक स्वरूप एवं अवस्था के साथ तद्‌रूपता की पुष्टि हो गई। जन्मों-जन्मान्तरों में यह तद्‌रूपता पुष्ट पर पुष्ट (परिपुष्ट) होती हुई देह धारणा बन गई। अतः **'मैं'** के बिना मूलतः मेरी (जीवात्मा की) देह क्या और कैसी है, मैं नहीं जानता। जीव-कोटि में हम सब जीव युगों-युगान्तरों से देह धारणा लेकर आते हैं और जैसे ही तथाकथित होश आती है, तो देह-धारणा हुई-हुई ही होती है। **पीर-पैगम्बर महापुरुष आने के लिए देह धारण करते हैं अथवा आकर देह धारण करते हैं।** देह-धारणा सहित, जीव कोटि में देह हमारे गले पड़ी हुई ही होती है और महापुरुष कोई भूमिका निर्वाह करने के लिए देह का मुखौटा धारण करते हैं। पहली हाड़-मांस की देह होती है, दूसरी हाड़-मांस की देह प्रतीत होती है।

जीव-कोटि में जो जीव की देह है, वह मानव-देह ही है और पीर-पैगम्बर अपनी इच्छानुसार किसी भी आकार को धारण कर लेते हैं। अपने भक्तों के कार्य करने के लिए अथवा स्वतः खेलने के लिए कोई शिला, पक्षी, पेड़-पौधा, औषधि, पशु, बादल, इन्द्रधनुष, नदिया अथवा प्रकृति का कुछ भी आकार लेकर संसार में आ सकते हैं, लेकिन जीव-कोटि में कोई ऐसा नहीं कर सकता। महापुरुषों की देह उनसे बँधी होती है और जीव, देह से बँधा रहता है। अपनी देह के आकार की धारणा के कारण होश सम्भालते ही हमारी सारी दौड़ देह व देह पर आधारित जगत में विभिन्न आकारों के सम्वर्द्धन, संशोधन और परिवर्तन के लिए ही हो जाती है, जबकि समस्त खेल निराकार का है।

'मैं' (जीवात्मा) अदृश्य एवं निराकार है। ईश्वर की भाँति सच्चिदानंद, छः विभूतियों से विभूषित, स्वयं में ठोस-घन-शिला तथा सहज सुखराशि है। **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है और देह भी अपनी जगह एक ही है। महापुरुष जब देह धारण करते हैं, तो देह में उनकी तद्‌रूपता **सी** होती है और देह

उनके तद्नुसार होती है। तद्रूपता भिन्न है और तदनुसारता पृथक् है। महापुरुष देह के साथ तथाकथित तद्रूप होते हैं। महत्त्वपूर्ण यह है, कि वह देह अपने स्वामी के भावानुसार रूप बदलती है।

जीव-कोटि में जब हम देहधारणा लेकर आते हैं, तो देह जीवात्मा के तद्नुसार तो होती ही नहीं है, बल्कि वह तद् विपरीत होती है। **'तद्'** जीवात्मा के लिए कहा गया है। साकार मानव-देह का रोम-रोम ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित व संहारित है। यह पल-पल, सतत् परिवर्तनशील एवं नश्वर है। एक सुनिश्चित अवधि में बँधी इस देह का अन्तान्त भस्मी है। ईश्वर ने माया में जो खेल रचाया है, यह मानव-देह उसके दिग्दर्शन के लिए और **'मैं'** (जीवात्मा) के खेलने के लिए थी। आनन्द खेल का आएगा, लिप्तता (Involvement) का नहीं आएगा। यदि हम खेल समझते हुए भी इसमें लिप्त (Involve) हो गए, तो भी हमारा आनन्द आच्छादित अवश्य हो जाएगा। यदि खेल में लिप्तता नहीं होगी, तो हार-जीत दोनों का आनन्द आएगा। महादुर्भाग्यवश जीवात्मा अपनी देह के साथ लिप्त होकर पूर्णतः तद्रूप हो गया। **'मैं'** वहाँ गया, **'मैं'** ने देखा, **'मैं'** ने सुना, **'मैं'** ने चखा, **'मैं'** ने सूँघा, **'मैं'** ने स्पर्श किया, **'मैं'** ने बोला, **'मैं'** ने सारा काम किया। इस प्रकार पूरी देह को **'मैं'** मानते हुए **'मैं** और **देह** का अद्वैत हो गया।

'मैं' और देह के अद्वैत से देह जब तद् (जीवात्मा के) विपरीत हो गई, तो जीवात्मा के सभी गुण-धर्म देह में विपरीत हो गए। **'मैं'** से रहित विशुद्ध देह स्वयं में कालातीत, देशातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत और माया के तीनों से अतीत होती है। सोया हुआ व्यक्ति **'मैं'** साथ नहीं लगा सकता, इसलिए स्वयं में राजा-भिखारी, हिन्दु-मुसलमान, वृद्ध-बालक, डॉक्टर-मरीज, चोर-पुलिस, साधु-शैतान कुछ नहीं होता। सोया हुआ व्यक्ति स्वयं में विकारों या विभूतियों दोनों से मुक्त होता है। देह के साथ तद्रूपता में जीवात्मा में **मैं** (अहंकार) और **मेरा** (ममकार) का भाव जाग्रत हो गया। इस भाव ने उसमें कर्ताभाव पैदा कर दिया। इन भावों के कारण देह जो सच्चिदानंद थी, वह सद् की जगह

असद्, चेतन की जगह जन्म-मृत्यु वाली और आनन्द की जगह सुखों-दुःखों से पूरित हो गई। ईश्वर प्रदत्त छः विभूतियाँ इसकी विकृतियाँ बन गईं। सौन्दर्य से काम, शक्ति से क्रोध, ऐश्वर्य से लोभ, ख्याति से मोह, ज्ञान से अहंकार और विरक्ति से आसक्ति में रूपान्तरण हो गया। वास्तव में ऐसा नहीं था।

जब हम देह के साथ **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होते, तो देह रोग-दोष, विकारों, गुणों-अवगुणों से रहित होती है और **'मैं'** स्वयं में विकार रहित ही है। **'मैं'** (जीवात्मा) आनन्द स्वरूप, चेतन, अमल और सहज सुखराशि है। जब **'मैं'** की तद्रूपता देह के साथ हुई, तो विकारों सहित ही हुई। जब जीवात्मा देह के साथ तद्रूपता में समस्त विकारों सहित है, तो वह इन विकृतियों को दूर कैसे कर सकता है? सोया हुआ **'मैं'** जब अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं हूँ, तो समस्त विकारों से रहित हूँ और जैसे ही देह की अवचेतना में आता हूँ, तो विकारों सहित ही होता हूँ, क्योंकि देह की मुझे धारणा है। सोया हुआ स्वयं को गरीब-अमीर, सुखी-दुःखी, उन्नत-अवनत, ऊँचा-नीचा कुछ नहीं कह सकता और **'मैं'** इनसे मूलतः मुक्त और विरक्त ही है।

'मैं' और देह की तद्रूपता आसक्ति युक्त एवं वैराग रहित होने के कारण तदनुसारता न होकर **'तद्'** विपरीतता होती है। जो महापुरुष देह को धारण करते हैं, उनकी देह तदनुसार होती है। उन्हें देह रूप में सभी आकारों पर अधिकार होता है। उनके लिए समस्त संसार वैरागमयी क्रीड़ा है, जहाँ विकृति या आसक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं होती। चाहे वह राजा-महाराजा बनकर खेलें या गुफा में दिगम्बर बनकर क्रीड़ा करें। जीव-सृष्टि में **'मैं'** देह धारणा लेकर ही संसार में आता हूँ और संसार से जाते समय भी मेरी देहधारणा परिपुष्ट ही रहती है। जीव सृष्टि में देहाध्यास हुआ, इस हुए-हुए से मुझे अहंकार हो गया, कि मैंने किया या करना है।

देह के नाम-रूप में आकार के साथ हुई-हुई धारणा के कारण मानव-देह में होश सम्भालते ही जीवात्मा की समस्त गति आकारों की ओर

ही हो गई। कर्ताभाव के साथ इसने अपनी समस्त ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को देह सहित जगत में विभिन्न आकारों के सम्वर्द्धन, परिवर्द्धन, संशोधन एवं विकास में झोंक दिया। जीवात्मा अपनी समस्त समष्टि से वंचित हो गया। कुछ प्राप्त होने पर अस्थाई तौर पर सुखी हुआ, कुछ हानि हो गई तो दुःखी हुआ। स्पर्धा की भावना, आगे बढ़ने की होड़, अधिक से अधिक और ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त कर समाज में नाम-यश एवं प्रतिष्ठा पाने की विभिन्न लालसाओं ने इसे जीवन में सुख, शान्ति, सन्तोष से वंचित कर दिया। शोक एवं चिन्ताओं से परिवेष्टित होकर भटकने लगा। शोक और चिन्ता, साकार की होते हुए भी स्वयं में निराकार है।

'मैं' (जीवात्मा) निराकार है, ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है। साकार देह ईश्वर द्वारा ही निर्मित, पालित व संहारित है। होश में आते ही मेरे लिए, मैं देह ही होता हूँ। जीव-कोटि में देहधारणा होती ही है और वह देह इसके तद् विपरीत होती है, जिससे इसे देहाध्यास होता है। किसी की चोर से दोस्ती होने पर दोस्ती इतनी पक्की हुई, कि वह खुद को ही चोर मानने लग गया। देह द्वारा धारित हुई-हुई **'मैं'** (जीवात्मा) जन्म लेती है, सोती है, जागती है, विकृतियों और गुणों-अवगुणों से पूरित होती है। जिस देह को हमने विकृत मान लिया, तो क्या देह द्वारा उसके विकार दूर हो सकते हैं? काम को वश में किया तो क्रोध बढ़ गया आदि-आदि। इसी संघर्ष में जीवन-दर-जीवन भटकन बनी रहती है। वास्तव में मूलतः गलती कहाँ है, मैं नहीं जान पाता। जीवात्मा को उसकी वास्तविक देह की अनुभूति नहीं हो पाती। **'मैं'** युक्त देह के कारण **'मैं'** (जीवात्मा) देहमयी हो गई। मेरे (जीवात्मा के) होश में देह, **'मैं'** मुक्त कैसे हो? **'मैं'** (जीवात्मा) के साथ समस्या यह हुई, कि जैसे ही देह की अवचेतना में **'मैं'** का प्रकाट्य हुआ, तो जैसी भी, जिस भी अवस्था में देह थी, उसने उसे **'मैं'** कहना शुरू कर दिया। मैं दुःखी, मैं सुखी, मैं रोगी, मैं स्वस्थ, मैं बूढ़ा, मैं जवान, मैं मरूँगा, मैं चिन्तित, मैं निश्चिन्त, मैं गुरु, मैं शिष्य, मैं पिता, मैं माता। देह के साथ जीवात्मा का इतना अपनापन, लगाव और अद्वैत हो गया, कि देह के विधर्मों

को **'मैं'** ने अपना विधर्म मानना शुरू कर दिया।

'मैं' निराकार **'देह'** साकार—देह के साथ **'मैं' भी विधर्मी हो गई।** देह अपनी मूल स्थिति में तभी आएगी, जब **'मैं'** अपने विशुद्ध निराकार स्वरूप में आएगा। देह के साथ धारणा के कारण तद्रूपता हो चुकी है। उस तद्रूपता में देह और मैं दोनों का अपना मूल विशुद्ध स्वरूप आच्छादित हो गया। मैं के बिना देह निष्क्रिय हो गई और **'मैं'** (जीवात्मा) ने देह के बिना कभी अपने को देखा ही नहीं। सोई हुई, मृतक, मूर्च्छित देह की **'मैं'** और साकार देह दोनों रोगों, दोषों, विकृतियों, गुणों, अवगुणों से मुक्त होती है। इस प्रकार जन्मों-जन्मान्तरों में भटकते जीव बने जीवात्मा को विशिष्ट कृपावश परम सद्गुरु की शरण मिली। सद्गुरु उसे उसकी साकार देह के ही निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य **'भस्मी'** की अवधारणा करवाता है। जीवन-काल में हुई-हुई देह धारणा पर देह की भस्मी की अवधारणा धीरे-धीरे इसकी देहधारणा को खण्डित कर देती है। देह व जीवन में भस्मी प्रत्यक्ष नहीं है। वस्तुतः यह अदृश्य चेतन भस्मी ही शिव के वैराग की प्रतिनिधि है।

शिव की अतिशक्ति विरक्ति कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की **'प्राण शक्ति'** है। पंच-महाभूतों का नियमन, संचालन, निर्माण, पालन और अन्ततः संहार के बाद इनमें विलय के सम्पादन की समस्त व्यवस्था इस विरक्ति शक्ति द्वारा ही होती है। शिव को इस समस्त कार्यक्रम से कुछ लेना-देना नहीं है। स्वयं में वह पूर्णतः विरक्त है, यह विरक्ति ही उसकी वीरता एवं शक्ति है। जो सशक्त है, उसका विरक्त होना आवश्यक है। शक्ति, विरक्त को ही मिलती है और विरक्त ही शक्ति को सम्भाल सकता है। शक्तियाँ विरक्त के चरणों में स्वतः ही आती हैं। सशक्त यदि विरक्त नहीं होगा, तो शक्तियों का दुरुपयोग करेगा। उसकी शक्ति भस्मासुर की तरह उसी के नाश का कारण बन जाती है। शिव विरक्त (वीर) है और विरक्त (वैरागी) है।

शिव की विरक्ति शक्ति स्वयं में अदृश्य है और यह प्राण शक्ति सहज जड़ पंच-महाभूतों की दशानन (निरन्तर, चिरन्तन, अविरल, अकाट्य, अबाध, सारगर्भित, विशिष्ट, संक्षिप्त, गुणात्मक एवं उद्देश्यपूर्ण) गति की

शक्ति है। न वह गति दृश्यमान है न गति की शक्ति दिखाई देती है। देह विशेष के साथ तद्‌रूपता में जीवात्मा (**'मैं'**) जीव बना हुआ युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में एक मिथ्या एवं जाली (Fake) आधार पर भटक रहा है। देह के कारण जीवात्मा **'मैं'** शब्द रूप में प्रकट होता है। देह की समस्त अवस्थाओं व रूपों के साथ **'मैं'** को लगाया, लेकिन देह की भस्मी के साथ **'मैं'** लगाना भूल गया, जबकि भस्मी ही देह की ऐसी निश्चित, दर्शित व परिलक्षित अवस्था है, जो अपरिवर्तनीय है एवं इसीमें जीवात्मा (**'मैं'**) का विशुद्ध स्वरूप छिपा है। भस्मी, देह का ऐसा रूपान्तरण है कि किसी भी **विशेष-देह** की भस्मी **देह-विषेष** की नहीं होती।

जीवात्मा (**'मैं'**) की तद्‌रूपता विशेष देह से हुई। विशेष देह की भस्मी होने पर वह भस्मी देह विशेष की नहीं होती, इसलिए **'भस्मी'** से तद्‌रूप होना **'मैं'** भूल गया। देह की सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु अवस्थाएँ विशेष देह की होती हैं। इन सब अवस्थाओं में नाम-रूप की विशेष देह होती है, इसलिए **'मैं'** देह धारणा में सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु अवस्थाओं को मानता रहा और इनसे तद्‌रूप होता रहा। मैं रोज़ सोना चाहता हूँ, क्योंकि सुषुप्ति विशेष-देह की है। देह में जितनी स्थितियाँ हैं, देह **में** जितने भविष्य हैं उनमें मैं लालायित रहता हूँ, क्योंकि सबमें मेरी विशेष देह रहती है। विशेष-देह और देह-विशेष में ही मेरी **'मैं'** जन्मों-जन्मान्तरों के मिथ्या और कल्पित काल-चक्र में युगों-युगान्तरों से भटक रही है। लेकिन देह के भविष्य **'भस्मी'** को मैं पूर्णतः उपेक्षित करता हूँ, क्योंकि मैं **देह-विशेष** से मुक्त होना ही नहीं चाहता। **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को विशेष देह तक सीमित रखना चाहता हूँ, चाहे वह किसी देश-काल, परिस्थिति, अवस्था, सम्बन्ध, धर्म या गुण-अवगुण की हो। **भस्मी विशेष देह का ऐसा शेष है, जो किसी देह विशेष का नहीं है।**

एक नाम-रूप की विशेष देह के शव की जब भस्मी बन जाती है, तो वह भस्मी किसी नाम-रूप की देह से सम्बद्ध नहीं रह जाती। यदि विशेष देह में जीते हुए जीवन-काल में **'मैं'** (जीवात्मा) किसी भी प्रकार से देह विशेष

से परे हो जाता, तो **'मैं'** को अपना स्वरूप मिल जाता। सद्गुरु कहता है–''तूने देह की उन सभी अवस्थाओं पर अपना अधिकार जमाया हुआ है, जो तेरे अधिकार में नहीं हैं। तू कहता है, कि तू सोता है, जबकि अपनी सुषुप्ति तूने नहीं देखी, अपनी मृत्यु तूने देखनी नहीं है। लेकिन अनदेखी मृत्यु का भय तुझे सताता रहता है। मृत्यु के बाद तेरी देह की भस्मी भी तो बनेगी। तू कभी भी मर सकता है इसलिए कभी भी भस्मी बन सकता है। आज भी बन सकता है, कल भी बन सकता है और कुछ बने न बने, लेकिन भस्मी अवश्य बनेगा। यदि तुझे वास्तव में देह धारणा है, तो तेरी भस्मी होगी ही। अतः जो होगी ही उसे **'है'** मान ले, कि मैं भस्मी हूँ। देह से, देह द्वारा, देह के लिए, देह की भस्मी को तू ध्यान में अपने वर्तमान में उतार ले। जैसे ही **'भस्मी'** तेरे सम्मुख आएगी, तू कह उठेगा, कि मैं भस्मी हूँ। वस्तुतः **'देह'** तेरा भाव है, जो सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति और मृत्यु में नहीं रहता। **अब तू जागृति में भस्मी भाव पैदा कर ले। विशेष देह की भस्मी तेरी देह विशेष की नहीं होगी।''**

'मैं' से जुड़ते ही देह, जीवात्मा के विपरीत हो गई। भस्मी बनते ही वह भस्मी, देह के विपरीत हो जाती है। क्योंकि देह की भस्मी देहातीत (देह व जीवन के बाहर) और देहातीत (साकार देह सहित जगत की सभी विधाओं से परे) है। सद्गुरु कहता है, कि ''उस भस्मी से आत्मसात् होने पर तुझे अपने निराकार स्वरूप की अनुभूति हो जाएगी। तेरी विशेष देह की भस्मी देह विशेष की नहीं है। इसलिए स्वयं में देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्ताव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत और माया के तीनों गुणों से अतीत है। इस प्रकार **विशेष देह** द्वारा तू **देह विशेष** से मुक्त हो जाएगा और तेरा देहभाव ही भस्मीभाव हो जाएगा। देह का वह परिवर्तन ऐसा अपरिवर्तनीय परिवर्तन है, जो तेरी हुई-हुई देह धारणा को हमेशा के लिए समाप्त कर देगा। इसके बाद जब भी तू देह को अपने साथ पाएगा, तो तू देह की धारणा करेगा। अपनी देह की भस्मी के साथ आत्मसात् होकर तू इतना आनन्दमय होगा, कि खेलने के लिए देह धारणा करेगा और वह

धारित देह भस्मीमयी दिव्य विदेह देह होगी, जो वैराग के साथ समस्त विभूतियों से विभूषित और विकृतियों से रहित होगी। तब तेरी देह तदनुसार होगी। तुझे देह, मैं और भस्मी तीनों की अनुभूति एक साथ होगी।'' यही देहानुभूति, आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूति है।

इसके बाद नाम-रूप वही रहता है, लेकिन **'देहभाव'** स्थाई रूप से भस्मी और अग्नि भाव में रूपान्तरित हो जाता है। फिर खेलने के लिए जीवात्मा देह धारण करेगा, उसमें उसकी कोई लिप्तता नहीं रहेगी। क्योंकि हुई-हुई देह धारणा हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है। जीवात्मा का **'अहं कार्य'** 'मैं ने किया है' का अहंकार **'तू'** और तेरा में बदल जाता है:—

''जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।''

इस समस्त वक्तव्य का सार है, कि साकार देह से मिलते ही निराकार **'मैं'** अपना स्वरूप खो गई थी। **'मैं'** निराकार है और भस्मी भी निराकार है। परम सद्गुरु-कृपा से साकार देह द्वारा दोनों निराकारों (मैं और भस्मी) का संगम होने पर साकार देह साकार होते हुए भी स्वयं में निराकार हो जाती है। इस विदेह देह को **'मैं'** (जीवात्मा) खेलने के लिए धारण करता है, तब वह भस्मीमय वैरागमयी देह जीवात्मा के तदनुसार होती है।

इस प्रकार देह जैसी भी, जिस स्वरूप में, जिस अवस्था में हो उसके साथ तद्रूपता में सद्गुरु की विशिष्ट कृपा से **'मैं'** (जीवात्मा) **ने अपनी** विशेष देह की भस्मी के साथ अध्यास किया, कि मैं भस्मी हूँ तो **'मैं'** (जीवात्मा) को देहाध्यास के स्थान पर भस्माध्यास हो गया। कोई भी विशेष देह इसकी अधिकारी है। यही मानव-देह व मानव-जीवन का लक्ष्य है। सद्गुरु-कृपा से एक बार देह भाव यदि भस्मी भाव में रूपान्तरित हो गया, तो जीवात्मा (**'मैं'**) समस्त दृश्यमान जगत के दृश्यों को पर्दे पर चलते नित्य नूतन चलचित्र के सामान देखता है और अपने जीवनामृत का रसास्वादन करता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(19, 28 अप्रैल एवं 3 मई, 2008)

अलंकरण एवं आच्छादन

इस संसार महानाट्यशाला का खेल नित नूतन है। नाट्यशाला वही, मंच वही, लेकिन कल कुछ और था, आज कुछ और है और कल कुछ और होगा। इस साकार प्रकाट्य में कोई निरन्तरता या Continuity नहीं है, लेकिन भौतिक निरन्तरता सी प्रतीत होती है। यही जगत **सा** है, वास्तव में है कुछ नहीं। ये 84 लाख मायिक अवस्थाएँ, योनियाँ या विधाएँ हैं। समय-समय पर इनका प्रस्तुतिकरण शिव-शक्ति-क्रीड़ा के आनन्द का प्रकाट्य है। जीवात्मा, एक आनन्दमय, निराकार, अभावमय मानस है, जिससे यह समस्त प्रस्तुति होती है। उस स्रष्टा परमात्मा ने अपने एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा के मनोरंजन और अपनी रचाई सृष्टि के रसास्वादन एवं वाह-वाह के लिए उसे अपनी सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट संरचना मानव-देह से नवाज़ा।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश पाँचों महाभूत स्वयं में निराकार एवं दृश्यमान हैं। इनका अपना एक प्राकृतिक स्वरूप है। परिस्थितिवश और आवश्यकता के अनुसार प्राकृतिक स्वरूप में प्राकृतिक परिवर्तन आते हैं। प्रकृति अपने स्वरूप को स्वयं अलंकृत करती है। उमड़ते-घुमड़ते बादल, दामिनी की चमक-दमक, सूर्योदय, दोपहर औरसंध्या के समय विभिन्न रंगों से आकाश अलंकृत होता है। अलंकार शोभा को बढ़ाने के लिए अस्थाई तौर पर अच्छे होते हैं, क्योंकि प्राकृतिक स्वरूप ही स्थाई और आनन्दमय होता है। मान लो अधिक समय तक आकाश में बादल ही छाए रहें, तो अन्ततः हम आकाश के प्राकृतिक स्वरूप की ही आकांक्षा करते हैं।

यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यह है, कि जब प्रकृति भी अपने स्वरूप का अलंकरण करती है, तो उससे वास्तविक प्राकृतिक स्वरूप का आंशिक अथवा पूर्णतः आच्छादन अवश्य होता है। किसी सीमा तक वह सुशोभित होता है, लेकिन अन्ततः वह आच्छादन भले ही अलंकारों द्वारा हो, हमें अखरने लगता है। निराकार स्वयं में अथाह व असीम है, लेकिन किसी भी आकार का स्वरूप ले लेता है जैसे जल लोटा, गिलास, बाल्टी आदि में डालने से उसी का **आकार सा** ले लेता है। इन पंच निराकार तत्त्वों का परम रहस्यमय संगम मानव-देह है। इस चमत्कारिक देह से जीवात्मा का अलंकरण किया गया। जहाँ अलंकरण होगा, वहाँ पूर्णतः अथवा आंशिक आच्छादन भी होगा।

जब हम किसी चीज़ का वर्णन करते हैं, तो उसके प्राकृतिक स्वरूप का ही वर्णन करते हैं। आकाश का स्वाभाविक, नैसर्गिक एवं प्राकृतिक स्वरूप निर्मल एवं नीलिमा लिए हुए है। बादलों में दामिनी की चमक-दमक, हल्की-हल्की फुहार और तेज वर्षा, सुबह के सूर्य की लालिमा, दोपहर की तेजी और शाम को उसका ढलना आदि आकाश के प्राकृतिक स्वरूप को थोड़ी देर के लिए आच्छादित करते हुए भी सुशोभित करते हैं। **प्रकृति के स्वाभाविक स्वरूप को प्रकृति ही आच्छादित करती हुई अलंकृत करती है।** आकाश के प्राकृतिक स्वरूप का आनन्द लेने के लिए इसमें प्रकृति की ओर से जो विभिन्न परिवर्तन आते हैं, वे क्षणिक होते हैं। आकाश का स्वरूप स्थिर है एवं उसका रंग नीला है। आप कहें रात को नीला स्वरूप नहीं होता। नीला, रात को भी होता है, लेकिन जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो कालिमा नज़र आने लगती है और प्राकृतिक नीलिमा छिप जाती है। कई बार परिवर्तन की आवश्यकता भी होती है। वर्षा ऋतु में उमड़ते-घुमड़ते बादल, मन्द-मन्द शीतल समीर, हल्की-फुल्की फुहार, मोर का नृत्य करना, नदी का कल-कल स्वर से बहना, सागर में उठती लहरें, त्रिविध समीर का कभी मन्द कभी तीव्रता से बहना, आकाश में इन्द्रधनुष बनना आदि दृश्य प्रकृति को और भी सुन्दर बना देते हैं। सुन्दर वस्त्रों, श्रंगार और आभूषणों से

स्त्री का अलंकरण होता है, साथ ही उन वस्त्रों व गहनों से शरीर का आच्छादन भी हो जाता है; उसी प्रकार प्रकृति भी अपने स्वाभाविक बदलते स्वरूपों से पृथ्वी, आकाश आदि को अपने अलंकरण से आच्छादित करती है। **आनन्द की स्थिति प्राकृतिक, अनाच्छादित, अभावमय एवं अलंकरण रहित है।** मानव का स्वभाव चंचल है, वह बहुत जल्दी किसी वस्तु से ऊब जाता है और परिवर्तन चाहता है।

आच्छादन तो अलंकरण के लिए है और वह क्षणिक एवं अस्थाई है। उचित समय व परिस्थिति के अनुसार धारण किए गये अलंकार हमारे शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। प्रगाढ़ निद्रा, विश्राम अथवा प्रेम की अवस्था में जब हम नाम-रूप की सृष्टि से परे आनन्द की स्थिति में जाना चाहते हैं, तो वही अलंकार जो हमारी शोभा बढ़ा रहे थे और हमें अच्छे लग रहे थे, हमें चुभने लगते हैं तथा आनन्द में बाधक लगते हैं। रात को सोते समय हम गहने आदि उतार देते हैं, क्योंकि वे निद्रा में बाधक बनते हैं। नूपुर की ध्वनि जो अच्छी लगती है, वह बुरी लगने लगती है। सभी अलंकार अस्थाई तौर पर ही अच्छे लगते हैं; इसलिए वस्त्र-आभूषण पहनने और उतारने आवश्यक हैं। अलंकरण से आच्छादन और आच्छादन अलंकरण के लिए होगा, यदि आच्छादन अलंकरण के साथ न होता, तो अलंकरण की आवश्यकता ही नहीं थी।

जीवात्मा सच्चिदानंद परमात्मा का अंश है और स्वयं में सहज सुखराशि है। इसमें अथाह, अविरल, नित्य नूतन, अकाट्य, अनन्त एवं असीम सुख है। ईश्वर का मानस पुत्र होने के कारण जीवात्मा कालातीत, देशातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, मायातीत एवं ब्रह्माण्डातीत है। महादुर्भाग्यवश मानव-देह के साथ तद्रूपता में यह भ्रमित हो गया, कि मैं देह हूँ। देह रूपी आभूषण से जीवात्मा, परमात्मा द्वारा अलंकृत किया गया था। लेकिन अज्ञानवश देह को अपना स्वरूप मानने और इससे नाम-रूप में तद्रूप होने के कारण इस अलंकरण से आच्छादित हो गया। **'मैं'** (जीवात्मा) ने विभिन्न रूप धारण कर लिए और जो जगत

साथ ही प्रकट हुआ था उसे स्वयं से भिन्न मान लिया। इस प्रकार स्वयं को स्वयं से ही वैर, द्वेष, भय-त्रास, स्पर्धा, ऊँचा-नीचा, छोटा-बड़ा आदि भावों के दलदल में फँसा लिया और अलंकरण ही घोर आच्छादन बनकर घातक हो गया।

यहीं से देह-बुद्धि द्वारा अर्जित देह की उपाधियों से स्वयं आच्छादित होकर अपने मूल सहज आनन्द स्वरूप से वंचित सा हो गया। मानविक बुद्धि से जितना अलंकरण है, वह आच्छादन को पुष्ट करता है। हमारे सारे जीवन की सम्पूर्ण दौड़ अलंकरण के लिए है, जो आच्छादन बनकर हमारे आनन्द में बाधा बन जाता है। अलंकरण चाहिए, लेकिन हमेशा नहीं चाहिए, नहीं तो अलंकरण से हुआ आच्छादन ही विकृति बन जाएगी। प्रतिदिन, प्रातः सद्गुरु-कृपा से कुछ क्षण के लिए ही सही जप-तप, यज्ञ-हवन, दान-पुण्य, ध्यान, सिमरन अथवा किसी भी प्रकार से हम अपना स्वाभाविक, अनाच्छादित वास्तविक स्वरूप अवश्य देख लें, जो जन्मों-जन्मान्तरों से आच्छादित है। **यदि अलंकरण से आच्छादन नहीं होता, तो अलंकरण भी उस वास्तविक स्वरूप की तरह अविरल और अकाट्य होता।** हमें पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि का संगम मानव-देह और हमारी आवश्यकता के समस्त पदार्थ स्वाभाविक रूप से मिले हैं, लेकिन हमारी सारी दौड़ अलंकरण के लिए है। अलंकरण से हुए आच्छादन को सद्गुरु-कृपा से स्वाहा-स्वाहा द्वारा हटाया जाता है। यज्ञ-हवन, जप-तप, ध्यान-धारणा, चिन्तन-मनन आदि पुरुषार्थ कर्मों से कुछ देर के लिए आच्छादित अलंकरण हट जाता है और मानस अनाच्छादित हो कर अपने मूल आनन्दमय एवं अभावमय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जितने वेद-पुराण, उपनिषद-शास्त्र हैं, वे सब जीवात्मा को अनाच्छादित करने और अलंकरण की प्रस्तुति के लिए हैं।

मानव-देह स्वयं में उस स्रष्टा की अमूल्य कृति है। देह, जीवात्मा का अलंकरण है। हमने अलंकरण को अलंकरण ही नहीं समझा। हमने इस देह के अलंकरण का महत्त्व ही नहीं जाना, कि इसका अवलम्बन लेकर हम

अपने वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन करते, जो स्वयं में सौन्दर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, ख्याति एवं वैराग से सुशोभित है। जो अलंकार प्राकृतिक स्वरूप को आच्छादित करते हैं, वे स्वयं में नग्न हों तभी अलंकरण करेंगे, नहीं तो शोभा बढ़ाने की बजाय शोभा का ही आच्छादन कर देंगे। गले में मोतियों की माला पहन कर उसे ढक लिया जाए तो उसका लाभ ही क्या है? प्रकृति का प्राकृतिक अलंकरण भी स्वयं में नग्न हैं :—

''नग्न तरु, पल्लव, खग, मृग वृंद,
नग्न श्याम तन आकाश, नग्न रवि, तारक, निहार

इसी प्रकार जीवात्मा स्वयं में दिगम्बर है। दिगम्बर का अर्थ **नंगा तन** होना नहीं है। **देह रूपी वस्त्र जिसने उतार दिया हो, वह दिगम्बर है।** दिशाएँ ही जिसका अम्बर (वस्त्र) हैं, वह दिगम्बर है। देह मेरा (जीवात्मा का) वस्त्र है—मात्र वस्त्र। इससे मेरा सम्बन्ध क्या है? यह जानना आवश्यक है, नहीं तो देह स्वयं अपने सम्बन्ध मुझ पर थोपना प्रारम्भ कर देगी। देह का अपना महत्त्व है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, महारथी, महाबली, महाज्ञानी, महायोद्धा व महापुरुष देह से अलंकृत हुए हैं। देह जीवात्मा के अलंकरण के लिए थी, लेकिन **'मैं'** (जीवात्मा) ने इस अलंकरण द्वारा न केवल स्वयं को आच्छादित कर लिया, बल्कि अलंकरण को भी विभिन्न उपाधियों से और-और आच्छादित करना प्रारम्भ कर दिया। **'मैं'** (जीवात्मा) देह के साथ तद्रूपता में समस्त विभूतियों से विभूषित अपने मूल **अभावमय** स्वरूप भूल गया और **अभाव में** आकर देह सहित जगत के विभिन्न मायिक रूपों में अपना स्वरूप खोजता हुआ जन्म-दर-जन्म भटकने लगा।

बादल, बिजली, चन्द्र, तारे, सूर्य आदि आकाश नहीं हैं, आकाश में हैं। नाव अलग है पानी अलग है, गन्ध व धूल अलग है, वायु अलग है, पृथ्वी से पौधे सब अलग हैं। मानव-देह धारण करके मुझ जीवात्मा को आश्वस्त होना है, कि मैं देह नहीं हूँ। मैंने देह ठीक उसी प्रकार धारण की है जैसे आकाश ने बादल, बिजली, चन्द्र, तारे आदि धारण किए हैं। पृथ्वी ने तरह-तरह की वनस्पतियाँ, पेड़-पौधे धारण किए हैं, वायु तरह-तरह की गन्ध धारण करती

है, जल विभिन्न स्वरूप ले लेता है। मैं देह के साथ भ्रमित हो गया, कि मैं देह हूँ, इसलिए मेरा विशुद्ध स्वरूप जन्मों-जन्मान्तरों से आच्छादित है। जबकि अलंकार वास्तविकता को चार चाँद लगाते हैं अलंकारों से अपना स्वरूप तो नहीं ढकते। यदि अलंकार वास्तविक स्वरूप को पूरी तरह से ढक दें, तो स्वयं को भी बुरे लगेंगे, दूसरे को भी। जीवात्मा का स्वरूप भी इस देह ने ढक लिया है। **'मैं'** (जीवात्मा) देह में नहीं हूँ, देह मुझमें हैं। देह और देह पर आधारित सारा जगत मुझ आत्मा में है। **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है। वह ही गुरु बनकर बोल रहा है और वही शिष्य बन कर सुन रहा है।

स्वप्न की सृष्टि में निराकार मानस से हमारी देह सहित जगत प्रकट होता है और वहीं समा जाता है। स्वप्न समाप्त और जगत सहित वह स्वप्न की देह भी समाप्त। एक जीवात्मा, एक ही देह का अवलम्बन लेकर सारा जगत बन जाती है। One in all, all in one. मान लीजिए, मैं गुड़गांव में अपने घर में सोया हुआ हूँ और मुझे स्वप्न आ रहा है कि मैं गंगा के किनारे प्रवचन दे रहा हूँ। स्वप्न टूटा, तो मैंने स्वयं को गुड़गांव में पाया। यह स्वप्न का शिव और उसकी सृष्टि एक निराकार मानस से प्रकट हुई। निराकार का चमत्कार एवं सौन्दर्य यह है, कि वह कोई भी आकार ले सकता है। एक निराकार मानस विभिन्न आकारों व रूपों में प्रकट हुआ। वास्तव में कुछ नहीं था, जो रूप बने एक मानस से प्रकट होकर उसी मानस में समा गए। न तू, न मैं, न गुरु न चेला। **जहाँ पर स्वयं के देह होने का भ्रम हो वहाँ स्वप्न सृष्टि की कल्पना कर लेना, आपका भ्रम दूर हो जाएगा।**

अध्यात्म में जगत का रहस्य पाने के लिए स्वप्न-दृष्टा होना बड़ा आवश्यक है। महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि उस स्वप्न में एक नाम-रूप की देह के रूप में **'मैं'** (जीवात्मा) न होऊँ, तो स्वप्न नहीं होता। एक देह का अपना महत्त्व है, जिसके द्वारा **'मैं'** जगत का अधिग्रहण करता हूँ। नाक से सूंघता हूँ, कानों से सुनता हूँ, पैरों से चलता हूँ। जगत के अधिग्रहण एवं प्रस्तुतिकरण के लिए दो पहलू परमावश्यक हैं। मेरी नाम-रूप की देह एवं जगत। स्वप्न की सृष्टि में मेरा (जीवात्मा का) किसी अवस्था में नाम-रूप

की देह की अवचेतना में होना परमावश्यक है, नहीं तो व्यवस्था रूप में स्वप्न की सृष्टि बनेगी ही नहीं। अब उसमें जो खेल चलेगा वो किसी के हाथ में नहीं है। उस समय जो मानसिक अवस्था है, तद्नुसार ही व्यवस्था रूप में देह सहित जगत की प्रस्तुति होती है। जिसका अधिग्रहण **'मैं'** (जीवात्मा) नाम-रूप की अवचेतना में करता हूँ वह मेरे (देह रूप में) द्वारा ही प्रस्तुत है। स्वप्न की जो projection हुई, वह मेरी नाम-रूप की देह की अवचेतना से हुई। उस स्वप्न में मेरी देह **भी** थी और उस स्वप्न का आधार मेरी वह देह **ही** थी। स्वप्न में जब तक मैं देह के रूप में अवचेतना में रहूँगा, तब तक स्वप्न समाप्त नहीं होगा। जिस देह सहित जगत का **'मैं'** (जीवात्मा) अधिग्रहण करता हूँ वह मेरे माध्यम से ही प्रस्तुत होता है। स्वप्न की सृष्टि में एक देह रूप में **'मैं'** न होता, तो वह मेरा स्वप्न ही न होता। वास्तव में देह है नहीं और वह जगत भी नहीं है। लेकिन जब देह थी, तब जगत भी था। यही जगत **सा** है।

'मैं' (जीवात्मा) एक ही है, आनन्दमय निराकार मानस एक ही है। जिससे देह सहित जगत प्रकट और लीन होता रहता है। इस जगत के प्राकट्य, प्रस्तुति एवं अधिग्रहण के लिए मुझे मेरी देह के नाम-रूप की अवचेतना में होना आवश्यक है। भयानक स्वप्न देखकर हम निद्रा से उठ कर भी घबराए रहते हैं, जबकि हमें पता है कि मैं स्वप्न वाली देह नहीं हूँ। मैं डरा हुआ क्यों हूँ? क्योंकि **'मैं'** को भ्रम हो गया, कि स्वप्न वाला व्यक्ति भी मैं ही हूँ। स्वप्न में यदि मुझे किसी साँप ने काटा और मैं घबरा कर उठ गया, तो भी मैं चैक करता हूँ, कि कहीं मुझे सांप ने काटा तो नहीं है, क्योंकि कुछ चुभन तो मुझे हुई थी। पता लगा, कि बिस्तर पर एक कील पड़ी थी, जो मुझे सोते समय चुभ रही थी।

जो जगत देह से project हुआ वह जीवात्मा के हाथ में नहीं था। उस projection के निर्माण में, अवस्था-व्यवस्था में कोई और कारण था, जो सब नाम-रूपों से बराबर सम्बद्ध था। वह सबमें एक ही था। वह ही **'मैं'** (जीवात्मा) बना, वो ही एक नाम-रूप की देह में अवस्था बना और उसने ही समस्त व्यवस्था (देह सहित जगत) में सब कुछ बनाया। The projection

was through that particular state (मायिक चैनल या एक अवस्था) which was projected as देह सहित जगत (व्यवस्था) The createrèplayer was one, which created the numerous things including पंच-महाभूत। **उस अवस्था-व्यवस्था का निर्माता एक ही है।** उस व्यवस्था को मेरी बुद्धि ने, मेरे मानस ने पकड़ा, तो मैं देह के साथ नाम-रूप की अवचेतना में तद्रूपतावश कल्पित जीव-सृष्टि भी बना लेता हूँ। जब जीवात्मा देह-भाव में उतरा, कि मैं देह हूँ तो समस्त जगत उसे अपने से पृथक् लगने लगा। जिस व्यवस्था में देह सहित जगत प्रकट हुआ और जिसका प्रस्तुतकर्ता समष्टिगत मस्तिष्क था, उसका अधिग्रहण व्यष्टिगत मस्तिष्क द्वारा किया गया और व्यष्टि मानस ही दुःखी-सुखी हुआ।

स्वप्न से जागकर कभी-कभी शंका होने लगती है, कि कहीं यह भी तो मेरा स्वप्न नहीं है। जब यह शंका और चिंता हो जाए, कि ये भी तो सपना नहीं, कहीं मैं भ्रमित तो नहीं हो रहा, तो यह **शंका-ए-मुराद** अथवा **चिंता-ए-मुराद** है। जीवात्मा (चेतना) कहीं जाता-आता नहीं, अवचेतना में विभिन्न स्वप्नों की देह के साथ तद्रूपतावश काल्पनिक जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में दुःखी-सुखी होता हुआ भटकता रहता है। बिना जागे यह जगत रूपी स्वप्न टूटेगा नहीं और बिना वास्तविक जागृति के स्वप्न की स्वप्नवत् प्रतीति नहीं होगी। प्राणायाम आत्मा का दंड है। प्राणायाम द्वारा योगी अपने वास्तविक जीवात्मा स्वरूप का दिग्दर्शन एवं रसास्वादन करता है और देह सहित जगत रूपी अलंकरण का आनन्द लेता है। **'मैं'** (जीवात्मा) **देह व जगत का बाध करके अपने इष्ट के ध्यान, चिन्तन एवं प्रेम में देह का सदुपयोग करूँ तो देह अलंकार ही है।** देह सहित जगत के आच्छादन को हटा कर अपने मूल **अभावमय स्वरूप** की अनभूति के लिए जीवात्मा को मानव-देह रूपी अलंकार से सुशोभित किया गया था। यह अलंकरण ही आच्छादन हटाने का एक मात्र साधन है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 27 – 28 जून 2006)

मान्यता

सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड सच्चिदानंद ईश्वर की संरचना है। वही इसका पालनकर्ता एवं संहारकर्ता है। इसमें कुछ भी परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, नवीनीकरण, पुनर्निर्माण आदि सब कुछ उसी के द्वारा, उसी की कृपा एवं इच्छा से होता है। सद् के साथ चेतन व आनन्द, चेतन के साथ सद् व आनन्द और आनन्द के साथ सद् व चेतन होगा ही, क्योंकि **सद्, चेतन व आनन्द का अविरल एवं अकाट्य संगम ईश्वर है।** असद्, अवचेतना एवं सुख-दुःख ईश्वर-विमुखता में है और सद्, चेतन व आनन्द ईश्वर-सम्मुखता में है। अध्यात्म में प्रविष्टि के लिए आवश्यक है, कि हम पल-पल, सृष्टि के कण-कण को **'सद्'** मान कर चलें, क्योंकि जिसे हम **'असद्'** समझे हुए हैं, वह मूलतः किंचित आच्छादित सा **'सद्'** ही है। सद् के आगे 'अ' लग गया, तो असद् हो गया।

सत्य और असत्य भौतिक, अस्थाई एवं एक दूसरे के सापेक्षिक हैं। जहाँ सत्य होगा, वहाँ असत्य भी होगा और दोनों समय, परिस्थिति, स्थान व मानवीय आवश्यकता के अनुसार बदलते रहते हैं। हमारी देह व जगत में विभिन्न सम्बन्ध, स्थान, स्थिति, धन, पद-प्रतिष्ठा, सौन्दर्य, डिग्रियाँ, ज्ञान-अज्ञान, अवस्थाएँ, मौसम और इनसे सम्बन्धित विधाएँ सतत् परिवर्तित होती रहती हैं। एक समय एवं स्थिति में वही जो सत्य होता है, दूसरी परिस्थिति व समय में असत्य हो जाता है। जगत में हमारी देह सहित जितना भी भौतिक परिदृश्य है, वह बदलता रहता है और उसी के अनुसार सत्य-असत्य के बिन्दु भी बदल जाते हैं। **'सद्'** अपरिवर्तनीय है और सद् का सापेक्षिक भी **'सद्'** है।

भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का ही सोपान है। इसकी सिद्धि के

बिना आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि लगभग असम्भव है। जगत में यदि कुछ पाने या खोने (छुटकारा पाना) के लिए हम कृत्य करते हैं, वे कृत्य आनन्दयुक्त हो नहीं सकते। वे सुखपूर्ण, उत्तेजनापूर्ण, स्वार्थयुक्त एवं अहंयुक्त होंगे। हर कृत्य हमारे भाव (मन) और विचार (बुद्धि) के तालमेल का प्रकटीकरण है। हर समय भाव और विचार में सम्पूर्ण समन्वय अथवा सामंजस्य होना आवश्यक नहीं है। कई बार **बुद्धि** को कोई बात जँच जाती है, लेकिन **मन** नहीं मानता।

हमारी कर्मेन्द्रियों, वाणी, लेखनी और प्रतिभाओं के प्रदर्शन द्वारा किसी कृत्य का होना, पहले से हो रहे कृत्य का चलना अथवा उसका बन्द होना **'कृत्य'** के अन्तर्गत आता है। यह कोई निर्माण हो सकता है, पालन हो सकता है अथवा संहार हो सकता है। किसी कृत्य के प्रारम्भ करने और होते हुए कृत्य को आगे बढ़ाने से बड़ा और साहसी कृत्य उसका बन्द करना या करवाना होता है। हमारे अपने वक्तव्यों एवं कृत्यों के पीछे हमारी नीयत (भाव) हम ही जानते हैं। सद्‌चरित्र व्यक्ति वह है, जिसके विचार और भाव में समन्वय हो। **'भाव'** शीर्षक प्रवचन में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है।

ईश्वरीय प्रेरणाओं का लक्षण **स्वतः भाव** होता है। ईश्वरीय प्रेरणानुसार जब कृत्य होते हैं, तो उन कृत्यों की प्रेरणा एक व्यक्ति को नहीं होती, बल्कि उस कृत्य में सहयोगी होने वाले सभी व्यक्तियों को एक साथ होती है। उन कृत्यों के लिए साधन भी स्वतः भाव से जुड़ने शुरू हो जाते हैं। न केवल साधन बल्कि प्रकृति भी तदनुसार सहयोगी होती है। अन्यथा कार्य के साधन जुटाना संघर्ष और तनाव का कारण बन जाता है। ईश्वरीय प्रेरणाओं के अधिग्रहण के लिए हमें अपने कार्यक्रमों एवं भूत, भविष्य से बोझिल दिल-दिमाग से खाली होना आवश्यक है। **आनन्द मिश्रित कर्म उत्साह है।** उसका प्रकाट्य सद् कृत्यों के रूप में होता है। सुख दैहिक और आनन्द देहातीत है। किसी नए अनजान व्यक्ति से मिलने पर हृदय में बहुत आनन्द हो, उसके साथ रहने और बातचीत करते रहने की इच्छा हो और

उसके जाने के बाद उससे पुनः मिलने की फिर से उत्कण्ठा हो, तो समझिए उस व्यक्ति से पूर्व जन्म का कोई सम्बन्ध अवश्य है।

किसी कृत्य का प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त तीनों आनन्दों से युक्त हो एवं स्वतः भाव से हो तो वह ईश्वरीय ही होता है। उसका फल कुछ पाना या खोना नहीं होगा। उसका फल उस अभीष्ट के पाने अथवा खोने के बाद का आनन्द होगा। आनन्दमय कृत्यों में हमें कुछ नहीं करना पड़ता, स्वतः भाव से लोग जुड़ जाते हैं और कुछ हमसे भी प्रभु करवा लेते हैं। ऐसे कृत्यों में छः ईश्वरीय विभूतियाँ प्रकट होती हैं—सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग। ये विभूतियाँ जीवात्मा की स्वरूपगत निधियाँ हैं। जीवात्मा देह के साथ नाम-रूप में तद्रूपता में वैराग को उपेक्षित न करे तो समस्त विभूतियाँ उससे प्रकट होती हैं। विरक्ति ही शक्ति है। जो महाविरक्त है, वह महावीर है। विरक्त ही वीर है, अन्यथा वह आसक्त अथवा अशक्त है।

हमारा भाव ही हमारा जगत बनता है। **भाव** का स्रोत **मन** है और **विचार, बुद्धि** से उठते हैं। जगत हमारी मान्यताओं का बाह्य प्रकाट्य है। जो **मान लिया** वह मान्यता है और जो नहीं माना, वह **नहीं मानना** भी मान्यता है। मन का तो स्वभाव ही मानना है। बहुत मानता है या कम मानता है। मान्यता मन की है—मानता है तो 'मन' और नहीं मानता है तो 'मन'। मन निराकार है और इसकी मान्यताएँ भी स्वयं में अदृश्य एवं निराकार हैं। साकार प्रकाट्य अप्रकट से होता है। जब मान्यता साकार में प्रकट होती है, तो मन को पुनः प्रभावित करती है। मानव-मन में किसी मान्यता से पहले भाव उठता है, भाव, विचार में परिणत होता है। जब बुद्धि उस भाव को जान कर संतुष्ट हो जाती है, तो उसी जान्यता को स्थायित्व देने और हृष्ट-पुष्ट करने के लिए मान्यता दी जाती है।

मान्यता का आधार भाव है और **'मनाना'** उस भाव को प्रभावित करता है। **भाव पर भाव को प्रभाव कहते हैं।** भाव की पुष्टि के लिए ही हम भाव को मान्यता देते हैं और मनाते हैं। मनाने का जो प्रभाव पड़ता है, वह हमारी मान्यता को पुष्ट ही करे, यह आवश्यक नहीं। कभी-कभी इतना विपरीत प्रभाव

पड़ता है, कि भविष्य में उसे कभी न मनाने की शपथ ले लेते हैं और कभी प्रभाव द्वारा मान्यता इतनी हृष्ट-पुष्ट और तुष्ट हो जाती है, कि हम न मनाना चाहे तो भी अदृश्य शक्ति स्वयं मनवा लेती है।

मन की हर मान्यता प्रकट नहीं होती और प्रकट होती भी है, तो एक ही मान्यता भिन्न-भिन्न प्रकट क्यों होती है? किसी मान्यता के दो प्राकट्य कभी एक जैसे नहीं होते। अर्थात् मान्यता के साथ कुछ और भी है, जिसकी मान्यता के प्राकट्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एक ही मान्यता के पीछे के भाव बदलते रहते हैं। भाव, स्वभाव के अनुसार बदलते रहते हैं। जिस त्यौहार या उत्सव को हमारा मन मानता है, उसे हम मनाते हैं। यदि नहीं मानता तो अक्सर नहीं मनाते। पहले हम मानते हैं, फिर मनाते हैं। मानना निराकार है और मनाना साकार में है। किसी को मानेंगे तो मनाएँगे। जैसा मानेंगे वैसा मनाएँगे और जैसा मनाएँगे वैसा प्रभाव पड़ेगा। हम भावानुसार अपनी मान्यता को मनाते हैं, फिर इस मनाने का प्रभाव मन पर यह पड़ता है, कि वह मान्यता या तो और दृढ़ हो जाती है या फीकी हो जाती है। किसी मान्यता को जब प्रभाव से मानते हैं, तो मन की मान्यता की शक्ति बढ़ जाती है।

यही बात आम जगत व्यवहार में भी चलती है। सारा खेल निराकार का है। निराकार मन की निराकार मान्यता को भावानुसार साकार में प्रकट किया, उसे मनाया तो उस साकार का मन के भाव पर भाव (प्रभाव) पड़ा। फिर वह प्रभाव, भाव बन गया जो पहले भाव से अधिक सशक्त हुआ। प्रभाव इस प्रकार भाव बन जाता है, तो वह स्वभाव बन जाता है। जो पहले प्रभाव यानि भाव पर भाव था, वह स्वभाव अर्थात् स्व+भाव (अपना भाव) बन गया। यह स्वभाव **'मन'** का अविभाज्य अंग बन जाता है और जन्मों-जन्मान्तरों तक साथ चलता है।

हम साकार में जो कुछ भी करते हैं अथवा हमारे द्वारा करवाया जाता है, वह स्वतः होता है। वह हमारे निराकार मानस जिससे वह प्रकट हुआ है; उसे प्रभावित अवश्य करता है। वह प्रभाव फिर हमारा भाव बनते हुए स्वभाव

बन जाता है। हम साकार में अपने मन के स्वभाव को ही बाहर देखते हैं। यही हमारा जगत है। जगत निर्मित नहीं हुआ, प्रकट हुआ है। साकार में प्रकट हुई मान्यता प्रभाव द्वारा हृष्ट-पुष्ट और तुष्ट हो जाती है अथवा रुष्ट हो जाती है। यदि मनाते-मनाते देह से देहातीत हो गए, तो मान्यता हृष्ट-पुष्ट और तुष्ट ही होगी, अन्यथा रुष्ट हो जाएगी।

एक समय हम जो जगत में देखते हैं, वह जगत हमारी उस समय की मानसिकता का बाह्य प्रकाट्य है। दृष्टा स्वयं को ही देखता है। जब हमारे मन और बुद्धि असद् होते हैं, तो हम कर्ता बन जाते हैं। मन और बुद्धि के किसी भी प्रकार के सम्बन्धों का प्रकाट्य हमारे बाहरी कृत्यों में होता है। भाव और बुद्धि में जो सम्बन्ध हैं, उनका पता हमारे कृत्यों द्वारा चलता है। ईश्वर भी हर कृत्य के पीछे हमारी नीयत देखता है। मन एवं बुद्धि के परस्पर सम्बन्धों से जो कृत्य बाहरी जगत में हुए, उसके पीछे भाव, स्वार्थपूर्ण थे अथवा परमार्थ, हितार्थ, अन्यार्थ एवं यथार्थ थे, इसके अनुसार सद्‌गुरु-कृपा प्रवाहित होती है। इस भावमय जगत में हम अपनी मान्यताओं के कारण उलझे हुए हैं और मान्यताओं द्वारा ही छुटकारा होगा। **'सद्'** को असद् बुद्धि और असद् मन अधिकतर स्वीकार नहीं करता। इसलिए मान्यता नहीं देता, लेकिन **'सद्'** इसका मोहताज नहीं है। **'सद्'** का बीज कभी नष्ट नहीं होता।

प्रेम, घृणा, शत्रुता, मित्रता, वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, चतुरता, मित्रता, स्नेह आदि सब भाव हैं, जो मानव-मन का उत्पाद हैं। भावों को हृष्ट-पुष्ट करने के लिए अथवा समाप्त करने के लिए पहले से मन में संरक्षित मान्यताओं का सहारा लिया जाता है। समस्त मान्यताओं का मूल मेरा व्यष्टि मन है। बुद्धि में विचार आता है और मन में भाव आते हैं। दोनों में परस्पर सामंजस्य अक्सर नहीं होता। बुद्धि, चेतना की स्रोत है और मन, आनन्द का स्रोत है। यदि बुद्धि अवचेतन है और मन आनन्दित नहीं है, तो दोनों में कभी समन्वय नहीं होगा और हमारे निर्णय भ्रमयुक्त एवं अस्त-व्यस्त होंगे।

भावमय जगत में मान्यताएँ हम अपनी मान्यताओं द्वारा देते हैं और संसार के मायाजाल में फँस जाते हैं। संस्कार युगों-युगान्तरों में हमारी चेतना

का अंग बन जाते हैं, जो जन्मों-जन्मान्तरों में साथ चलते हैं। हम इन संस्कारों के साथ ही जन्म लेते हैं। स्वभाव भी विशेष कारणों से, विशिष्ट परिस्थितियों में अस्थाई रूप से ही बदल जाता है, लेकिन संस्कार नहीं बदलते। जैसेकि प्रेम एक भाव है। विवाह उस प्रेमभाव की मान्यता की पुष्टि है। जब तक इस प्रेम भाव को विवाह की मान्यता नहीं दी जाती, तब तक मन में संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं। प्रेम भाव को हृष्ट-पुष्ट और तुष्ट करने के लिए विवाह के रूप में मान्यता की पुष्टि दी जाती है। यदि मान्यता नहीं दी जाती, तो भाव रुष्ट हो जाता है। मान्यता के बाद संस्कार उस भाव के पोषक और रक्षक होते हैं। जहाँ चेतना संस्कारयुक्त नहीं होती वहाँ भाव, विवाह की मान्यता की पुष्टि के बाद भी डाँवाडोल हो जाते हैं। इसीलिए संस्कारवश जो हमारी मान्यताएँ हैं, उन मान्यताओं से विवाह की मान्यता की पुष्टि की जाती है। विभिन्न समाजों में विवाह की विभिन्न पद्धतियाँ हैं, लेकिन अन्ततः लक्ष्य लड़का-लड़की के बीच विवाह-सम्बन्ध की मान्यता देना होता है। सम्पूर्ण विश्व में विवाह अलग-अलग धर्मों, जातियों, वर्गों, समाजों में विभिन्न प्रकार से होते हैं।

विवाह, मान्यता के लिए किया गया प्रकरण है। एक दूसरे की मान्यता में बाधा न आए, इसके लिए विभिन्न धार्मिक प्रकरण किए जाते हैं। उस नैतिक मान्यता के समझौते की मज़बूती के लिए धार्मिकता एवं सामाजिकता का पुट दिया जाता है। मिलन का प्रकरण होने के कारण इसमें प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होती है। एक अनजान व्यक्ति को एक स्त्री, विवाह प्रकरण के बाद अपना पति मान लेती है। इसी प्रकार अस्पताल में स्त्री एक बच्चे को जन्म देती है, डिलीवरी के तुरंत बाद हर स्त्री को एक-डेढ़ मिनट की मूर्च्छा हो जाती है। नर्स जिस बच्चे को उसके बगल में लिटा देती है, वह उसे अपना बच्चा मान लेती है। किसी बच्चे का होश सम्भालने पर विशिष्ट माता-पिता को माँ-बाप मानना भी उसकी मान्यता है।

मृत्यु बिछुड़न का प्रकरण है, इसलिए किसी की मृत्यु के बाद उसके क्रिया-कर्म के कार्यक्रम में जो औपचारिक क्रियाएँ होती हैं, वे उस मृत्यु को

मानने और मनवाने के लिए होती हैं। यह एक प्रकार की उद्घोषणा है, कि इस मृत्यु को स्वीकार किया जाए। मृत्यु के समय लोगों को मात्र सूचना दी जाती है, निमन्त्रण देकर आमन्त्रित नहीं किया जाता। क्योंकि वह घटना हो चुकी है, कोई माने चाहे न माने। समाज के द्वारा, रिश्तेदारों के द्वारा और स्वयं अपने द्वारा मान्यताओं की पुष्टि, प्रामाणिकता एवं सत्यापन किसी भी प्रकरण द्वारा किया जाता है। भौतिक जगत में जिनके प्रति मान्यताएँ हैं, वे वस्तुएँ, प्राणी, पदार्थ हमेशा रहने वाले नहीं हैं। मान्यता से पहले वे हमारे लिए नहीं थे। मान्यता देने के बाद, कभी भी वे हमें छोड़ देते हैं अथवा उनके प्रति हमारे भाव लड़खड़ा जाते हैं तो हम उन्हें छोड़ देते हैं या मृत्यु उन्हें हमसे अथवा हमें उनसे छीन लेती है।

जो कुछ जीवन में खोना-पाना है वह हमारी भ्रमपूर्ण मान्यताएँ ही हैं। वास्तव में हम खुद को खो बैठे हैं। हम स्वयं को नाम-रूप की देह मानते हुए अवचेतना में अपनी देह से जुड़ी स्मृतियों में खोए रहते हैं। जब हम कोई घटना याद करते हैं, तो उस घटना में हम स्वयं भी एक रूप में होते हैं, नहीं तो वह हमारी स्मृति हो ही नहीं सकती। किसी स्मृति से यदि अपना वह रूप निकाल दें, तो वह स्मृति ढह जाएगी। वस्तुतः हम अपनी उस उपस्थिति को ही याद करते हैं। अपने किसी मृतक परिजन को याद करते समय भी उसके साथ सम्बन्धित अपने रूप को ही हम याद करते हैं। अपना वह रूप यदि उसमें से निकाल दें तो उस मृतक परिजन से सम्बन्धित सारी स्मृतियाँ ढह जाएँगी। **हमारी स्मृतियाँ दुःखद हो या सुखद उनमें देह रूप में उस समय की हमारी उपस्थिति ही उनका आधार होती है।**

किसी की पत्नी का देहान्त हो गया तो वह अपनी पत्नी का पिण्डदान तो कर देता है, लेकिन उसका स्वयं का जो पति रूप उसके साथ सम्बद्ध था, उसका पिण्डदान कोई नहीं करता। पति को उसकी पत्नी की स्मृति नहीं आती, बल्कि उन स्मृतियों में देह रूप में अपनी स्वयं की उपस्थिति की स्मृति ही पत्नी के देहान्त के बाद उसे तनावग्रस्त रखती है। वह पति रूप ही उसे पत्नी के साथ बीती स्मृतियों में बार-बार शोकग्रस्त करता है। वास्तव में

अब वह पति नहीं है, क्योंकि उसकी पत्नी नहीं है, वह अपने पति रूप का पिण्डदान कर दे, तो वह शोक मुक्त हो जाएगा। वह जो साधारण संसारी स्त्री पत्नी रूप में उसके साथ थी, अब जन्म-मृत्यु से रहित, अक्षुण्ण व अविरल दिव्य स्त्री बन जाएगी। अर्थात् जीते जी वह अपना पतिरूप त्याग दे, तो अपने पति रूप का वह स्वामी बन जाएगा और पत्नी की सारी स्मृतियाँ, अनुभूतियाँ बन कर उसे आनन्द देंगी।

प्रौपर्टी, धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, सन्तान, पारिवारिक सम्बन्ध एवं साकार देह सहित जगत की कोई भी भौतिक विधा हमेशा रहने वाली नहीं हैं। देह धारणा के कारण इन भौतिक विधाओं में हमारी मान्यताएँ इतनी पुष्ट हो जाती हैं, कि इनके न रहने पर भी मान्यताएँ बनी रहती हैं, जो कष्टकारी होती हैं। जब तक जीवन में सक्रिय रूप से हमारी उपस्थिति है, उसी दौरान हमारी मान्यताओं का बाध होना आवश्यक है। हमने अपना जन्म मान लिया, यद्यपि किसी ने स्वयं को पैदा होते नहीं देखा, फिर भी हर वर्ष अपना जन्म-दिवस मनाते हैं। हमने स्वयं को न पैदा होते देखा है और न अपनी स्वयं की मृत्यु भी कोई देखता है। मृत्यु तो छोड़ो, किसी ने स्वयं को सोए हुए भी नहीं देखा। मैं स्वयं को मरते हुए देख सकता हूँ, मरा हुआ नहीं देख सकता। सबको मृत्यु का हौव्वा परेशान किए हुए है। अपनी जो स्थिति किसी ने देखी नहीं, वह मात्र एक मान्यता ही तो है। जन्म जैसे मान्यता है, वैसे ही मृत्यु भी मान्यता है। ईश्वरीय प्रकृति ने इसका बड़ा रहस्य प्रत्यक्ष रखा है, कि किसी ने स्वयं को सोए हुए, मूर्च्छित या मरे हुए न कभी देखा है, न कभी भविष्य में देख पाने की सम्भावना है। किसी ने स्वयं को अपनी होशोहवास में माँ के गर्भ में या जन्म के बाद माँ की गोद में शैशवावस्था में नहीं देखा। देह की जो अवस्थाएँ मेरी जड़ मान्यता हैं, इनका आध्यात्मिक जगत में सदुपयोग किया जाना चाहिए। मैं मरना नहीं चाहता इसलिए स्वयं को अत्यधिक व्यस्त रखते हुए उसे उपेक्षित करता रहता हूँ। बिल्ली को आते देख कर कबूतर अपनी आँखें बन्द कर लेता है, तो बिल्ली और पास आ जाती है और उसे झपट कर खा लेती है। हम सब भी कबूतर की तरह क्यों करें? इस स्थिति

का सार ग्रहण करें। दूध से जब एक बार घी निकल आता है, तो उस घी को पुनः दूध में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता।

जन्म-दिवस मना-मना कर जो जन्म हमने देखा नहीं, उसकी मान्यता की पुष्टि कर ली। यदि जन्म हुआ है, तो मृत्यु अवश्य होगी। जीवन **में** जितने भविष्य हैं, वे तो अनिश्चित हैं, पूरे हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते। परन्तु मृत्यु निश्चित और दर्शित भविष्य है। बिना अपने देखे, कही-सुनी बातों पर मैंने अपना जन्म मान लिया। दूसरों को मरते देख कर अपना मरना मान लिया, कि मैं मरूँगा। एक मिथ्या मान्यता (जन्म) पर दूसरी मिथ्या मान्यता (मृत्यु) खड़ी है। उसके लिए हम चिन्तित रहते हैं, क्योंकि वह ऐसा भविष्य है, जो कभी भी आ सकता है। मेरा पैदा होना मेरे लिए तो कल्पना ही है, लेकिन मैंने अपने जन्म को मान्यता दे दी और मानकर हर साल उसे मनाता हूँ। जन्म अतीत में हुआ और मृत्यु भविष्य में होगी। अतीत की एक मान्यता पर भविष्य की एक मान्यता खड़ी करके मैने अपना वर्तमान भय, चिन्ता एवं तनावग्रस्त बना लिया। मेरा जीवन्त एवं अमरतवान वर्तमान प्रदूषित हो गया।

यदि मैं मान्यता द्वारा विवाह, बच्चों, परिवार, पद-प्रतिष्ठा, धन-दौलत आदि में फँस सकता हूँ, तो मान्यता द्वारा निकल क्यों नहीं सकता? मृत्यु एक ऐसी मान्यता है, जहाँ मैं (देह) और मेरा (जगत) कुछ नहीं रहेगा। न धन-दौलत, न सुख-दुःख, न लाभ-हानि, न यश-अपयश, न धर्म-कर्म, न देश-विदेश। इन सब विधाओं से रहित मैंने स्वयं को न देखा है, न देखना है। विवाह के बाद मैंने स्वयं को देखा, सन्तान हो जाने पर मैंने स्वयं को देखा, पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्ध बनाने के बाद स्वयं को और उनको भी देखा। परन्तु मृत्यु एक ऐसी मान्यता है, जिसके बाद मैंने स्वयं को और जगत को देखना नहीं है। मरूँगा मैं, देह मेरी जाएगी और जब मरूँगा तो मैं मान्यता देने के लिए रहूँगा नहीं। विशिष्ट सद्गुरु-कृपा से मैं अपनी मृत्यु को स्वयं मान्यता दूँगा, तो मुझे अपने शाश्वत अमर स्वरूप की अनुभूति अवश्य हो जाएगी। इसके बाद मान्यताएँ अपने इष्ट, सद्गुरु तथा आध्यात्मिक जगत की

यात्रा के सहयोगियों के प्रति होती हैं। ये मान्यताएँ मुक्ति का हेतु होती हैं।

हम मान्यताओं में फँसे हैं और मान्यताओं से ही निकलेंगे। मान्यताओं को मान्यताओं से इस प्रकार निकाला जाता है जैसेकि काँटे से काँटा निकाला जाता है। अपने सद्‌गुरु और इष्ट के विविध स्वरूपों की मान्यता हमारी अपनी नाम-रूप की मान्यता के आधार पर खड़े अनेकानेक मान्यताओं के अति विशाल भवन को धराशायी कर देती है। मेरी देह के नाम-रूप की अवचेतना मेरी हर मान्यता का आधार है। अवचेतना में मैंने संसार के सम्बन्धों और साकार जगत की विविध विधाओं को मान्यता दी। इसी अवचेतना में मैं किसी रूप, अरूप, पत्थर, शिला या विग्रह में प्रभु को भी मान लूँ। जैसे संसार को माना था उसी प्रकार ईश्वर को भी नाम-रूप में मान कर चलूँ। विभिन्न सांसारिक मान्यताएँ मेरी मान्यता की मोहताज हैं लेकिन ईश्वर मेरी मान्यता का मोहताज नहीं है। परमात्मा है, और है ही। उसी की वजह से मैं हूँ। सद्‌गुरु-कृपा से इष्ट की मान्यता में इतना बल है कि वह नाम-रूप जिसमें आपने ईश्वर को इष्ट रूप में मान्यता दी है **जब वह आपको मान लेता है तो अन्य सभी सांसारिक मान्यताएँ फीकी पड़ने लगती हैं।** उपासना परिपक्व होने पर सर्वत्र आपको विभिन्न नाम-रूपों में अपना इष्ट ही नज़र आने लगता है।

सद्‌गुरु अथवा इष्ट की मान्यता थोपी हुई नहीं होती, इसके साथ स्वतः ही हृदय का उल्लास जुड़ जाता है। हनुमान जयन्ती, कृष्ण जन्माष्टमी, राधा अष्टमी, रामनवमी आदि उत्सव हमारे मन की मान्यताएँ हैं। जिन्हें हम मानकर अपने भावानुसार एवं सामर्थ्यानुसार मनाते हैं। इन उत्सवों को मनाने का भाव उठने से पहले उसे सहर्ष मानना अति आवश्यक है। हम अपनी इच्छा से मान सकते हैं, लेकिन मना नहीं सकते। क्योंकि बहुत से भौतिक तथ्य इस मनाने के साथ जुड़े रहते हैं—समय एवं स्थान की उपलब्धि, पारिवारिक एवं अन्य सम्बद्ध लोगों का सहयोग, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थितियाँ आदि। सबसे महत्त्वपूर्ण है—दैवी शक्तियों की कृपा। **मनाना कृपा साध्य है। जब ईश्वर हमसे मनवाता है, तो उसकी**

समस्त प्रकृति भी हमारे अनुकूल हो जाती है और सब उल्लसित व आनन्दित रहते हैं।

हम अपने मन की हर मान्यता को ईश्वरीय कर लें, कि ''हे प्रभु मान्यता तेरी है और इसे मना भी तू रहा है।'' सद्गुरु द्वारा निर्देशित कोई भी कृत्य, अकृत्य, प्रवचन, मौन, स्पर्श एवं कोई अस्पर्श भी इसी दिशा में होता है, कि उसकी कृपा से हमारी अपनी मान्यताओं का समर्पण हो जाता है। उनका दैवीय मान्यताओं में रूपान्तरण हो जाता है, दैवीय मान्यताओं से हमारी **'मैं'** अति विस्तृत हो जाती है। अध्यात्म मात्र उन लोगों का विषय है, जो स्वयं में आनन्दित व उल्लसित रहते हैं। जिनके समस्त आँसू मात्र उनके सद्गुरु अथवा इष्ट के प्रेम में बहते हैं। ईश्वर के वियोग में रोने के लिए स्वभाव में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। सद्गुरु के सद्निर्देशन में किए जाने वाले पुरुषार्थ प्रकरण स्वभाव का रूपान्तरण कर देते हैं। जब स्वभाव आनन्दमय हो जाएगा, तो जगत स्वतः ही बदल जाएगा। जीवन के सुख-दुःख, पाना-खोना, मिलना-बिछड़ना, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति, मान-अपमान सब ऐसे ही चलते हैं। हमें हर स्थिति में आनन्द आए, यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है।

ईश्वर जन्म-मृत्यु से परे है और भगवान के विभिन्न अवतारों का जन्मदिन, जन्म-मृत्यु में बँधे हम जीव मनाते हैं, ताकि सद्गुरु-कृपा से हम भी जन्म-मृत्यु रहित हो जाएँ। **'मृत्योर्मा अमतृम् गमयः'** कहने मात्र से हम अमर नहीं हो सकते। जो अमर हैं, चिरंजीवी हैं, उनका जन्मदिवस मना-मना कर हमारे मन का स्वभाव बदल जाएगा। हम आकार में उस निराकार के साकार अवतारों के जन्म को मानें, मनाएँ, मनवाएँ तो हमारे मन की मान्यताएँ सद् हो जाएँगी। हम भी अपने निराकार में स्थित हो जाएँगे। यदि हम **'तन्मय'** होकर कोई भी उत्सव मनाते हैं, तो उस मस्ती में डूबकर हम **'मन्मय'** भी हो जाते हैं और वहीं इस **तन्मयता** एवं **मन्मयता** का मन पर प्रभाव पड़ता है। वही मानसिक दिव्यता है और वही आनन्द है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 28 मई से 30 मई, 2007)

भ्रमित

मानव-देह स्वयं में ईश्वर-प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ कैरियर है। किसी स्थान की दूरी की नाप किसी विशेष स्थल से होती है। मानव-देह में स्वयं को नाम-रूप में पहचान कर जीवात्मा की जो **दुर्गति** हुई, उसे साधारण शब्दावली में ईश्वर से दूर होने की गति (दूर+गति=दुर्गति) कहा जा सकता है। **'अर्थ'** वह आधार है, जहाँ से ऊर्ध्वगति और अधोगति की गणना कर सकते हैं। किसी जन्म में जिस समय सद्‌गुरु-कृपा से जीवात्मा को मानव-जीवन के **'अर्थ'** के आधार की Realisation हो जाती है, वहाँ से मानव-देह की अमूल्यता का आकलन होने लगता है। उसका जीवन **'अर्थ'** से यथार्थ की ओर ऊर्ध्वगति करने लगता है। आध्यात्मिक जगत यथार्थ, हितार्थ और अन्यार्थ है।

ईश्वर की पूरे महाब्रह्माण्ड में विलक्षणतम्, अति रहस्यमय, परम उत्कृष्ट, अद्वितीय एवं असमानन्तर संरचना **'मानव-देह'** है। ईश्वर ने जलचर, नभचर, थलचर और जितना भी प्राणी-जगत, जीव-जन्तु आदि निर्मित किए हैं, उनमें **'मानव-देह'** के समकक्ष कोई नहीं है। मैंने चिकित्सक होने के नाते इस देह का अध्ययन किया और पाया कि मानव-देह की कार्य-प्रणाली बहुत ही रहस्यमय एवं स्वचलित है। हम वैज्ञानिक इसका एक बाल, एक नाखून तक नहीं बना सकते। यह मानव-देह बहुत ही Complicated ऐसी रहस्यमय मशीनरी है, जैसी किसी अन्य पशु-पक्षी, जीव-जन्तु की नहीं है। जो चिकित्सक अपना रोग ठीक नहीं कर सकते, वे किसी दूसरे को रोग से मुक्त कैसे कर सकते हैं ?

इसलिए हम चिकित्सक इस मानव-देह की चिकित्सा का दावा कर ही नहीं सकते, न मालूम देह में कब क्या प्रकट हो जाए? एक ही समय में लाखों, करोड़ों क्रियाएँ हमारी जानकारी के बिना इसमें चलती रहती हैं। हृदय, फेफड़े, किडनी, लिवर, रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, अवांछित पदार्थों का निकास, हारमोन्स का बनना, नर्वाइन सिस्टम का क्रियान्वयन आदि सब कुछ हमारे बिना किसी हस्तक्षेप व जानकारी के स्वतः होता रहता है। सांस लेने के लिए वायु, पीने के लिए जल, सूर्य, चन्द्रमा आदि की रोशनी उसने हमें सहज एवं निशुल्क दी हुई है। पेड़ों के पत्ते, दूर्वा, सब्ज़ियाँ, फल-फूल, वनस्पति, कन्द-मूल, आदि से भी इसका विकास एवं रख-रखाव ईश्वर की कृपा से स्वतः होता रहता है।

इस मशीनरी के सुचारु रूप से कार्यरत होने के कारण ही हम कुछ काम कर सकते हैं। ईश्वर ने यह मानव-देह हमें उपहार में नहीं दी है। उपहार में यह मान लिया जाता है, कि उपहार देने वाला उसे कभी वापिस नहीं लेगा। लेकिन ईश्वर ने मानव-देह दी है और जब वह चाहता है, इसे वापिस ले लेता है। इसकी एक **अवधि** है, जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। हमसे अवधि गुप्त रखने में ईश्वर का विशेष अर्थ है। मानव-देह पाकर अपनी बुद्धि की प्रखरतम् एवं उच्चतम् सीमाओं द्वारा मैं जान जाता हूँ, कि यह देह मेरी नहीं है, मुझे मिली है और मुझसे कभी भी छीन ली जाएगी। जब हम किसी को बहुत नायाब एवं अनुपम वस्तु देते हैं और पुनः वापिस लेते हैं, तो देने और लेने के नेपथ्य में किसी भी समझदार व्यक्ति का **'अर्थ'** होता है। ईश्वर ने हमें अति विलक्षण मानव-देह दी है, तो इसमें 'अर्थ' मानव-जीवन का आधार है। अतः ईश्वर का जो **'अर्थ'** है, वह हमारे जीवन का आधार है। ईश्वर का इसे देने और लेने दोनों में अर्थ है—अर्थ में अर्थ यानि ईश्वर का **'अर्थार्थ'** (अर्थ+अर्थ=अर्थार्थ) है। अर्थार्थ शब्द आध्यात्मिक शब्दकोश में ही है। जीवात्मा, जैसे ही स्वयं को इस मानव-देह के नाम-रूप से पहचानता है, कि मैं अमुक-अमुक हूँ, तो यहाँ से उसका Drastic Demotion प्रारम्भ हो गया। **'मैं'** Common **तत्त्व है।**

नाम-रूप सबके पृथक्-पृथक् हैं। सबकी प्रतिभाएँ, गुण, धर्म, कर्म, कर्तव्य, जात-पात पृथक्-पृथक् हैं, लेकिन **'मैं'** एक ही है। जीवात्मा एक ही है। **'मैं'** जब मानव-देह के नाम-रूप की अवचेतना में आता हूँ, तो जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य होता है। यह मानव-देह पाकर हमने अपने हिसाब से इसका **'अर्थ'** निकाल लिया। ईश्वर के अर्थार्थ का अर्थ हमने नाम-रूप की अवचेतना में अपनी तुच्छ बुद्धि से स्वयं निकाला, तो हम पतित होते चले गए।

हम यह जान जाएँ, कि हम कुछ नहीं जानते। इसीलिए ईश्वर ने समस्त प्राणी-जगत में विलक्षण बुद्धि हमें दी है। अगले क्षण क्या घटेगा हम नहीं जानते, पहले क्षण में जो हुआ, वह हमारे करने से नहीं हुआ। ऐसा होना ही था। यह **'सद्'** बहुत ही सहज व सरल है, लेकिन हम देह के साथ तद्रूपता में सत्य-असत्य रूप **'असद्'** में घिरे रहते हैं। हम समर्पण कर दें, कि ''प्रभु ! मैं देह व जीवन का कुछ भी नहीं जानता, इसीलिए तुम्हारी शक्ति, इच्छा व कृपा से मैं तुम्हारे चरणों में समर्पित करता हूँ, तुम्हीं इसे चलाओ। देह का **अर्थार्थ** तो क्या, मैं तो इसका **अर्थ** भी नहीं जानता। मैं यदि इसका प्रयोग करूँगा, तो अपना अर्थ लगाते हुए दुरुपयोग ही करूँगा, वही करता रहा हूँ। आप इसके प्रत्यक्ष एवं चश्मदीद गवाह हैं। आप जानते हैं, कि मैं इसी कारण से फँसा हुआ हूँ और अनेक प्रकार से दुःखी व तथाकथित सुखी सा होता रहता हूँ। ''यह सद् समर्पण होते ही हमारा जीवन यथार्थ होने लगेगा।

जीवात्मा स्वयं को देह के नाम-रूप से पहचान कर जीव बन जाता है, तो यह अपनी समस्त समर्थ खो बैठता है। इसकी सारी सुकृतियाँ ही विकृतियाँ बन जाती हैं। परमात्मा की इकलौती सन्तान जब स्वयं को जीव-सृष्टि में पाता है, तो इसकी विरक्ति–आसक्ति (अशक्ति), सौन्दर्य–काम, ख्याति–मोह, शक्ति–क्रोध, ज्ञान–अहंकार, ऐश्वर्य–लोभ बन जाते हैं। इसका घोर पतन (अधोगति) हो जाता है। अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में भटकता हुआ किसी जन्म में यह सद्गुरु-कृपा से उस

देह पर आधारित जगत के सब नाम-रूपों में स्वयं को देखता है, तो अपनी मानव-देह की सार्थकता की ओर प्रेरित होता है। जगत तभी प्रकट होता है, जब **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानता हूँ। तब उस समय की मानसिकता के अनुसार जगत प्रकट होता है। जो जगत प्रकट होता है, उसमें मैं निर्माण, रख-रखाव, परिवर्तन चाहता हूँ, क्योंकि मैं यह नहीं जानता और मानता कि मेरी देह सहित समस्त जगत मेरी मानसिकता से प्रकट हुए हैं। जिस मानसिकता में मेरी देह प्रकट होती है, उसी में जगत भी प्रकट होता है।

एक है—मानसिक स्थिति और दूसरी है मानसिकता। मानसिक स्थिति स्वयं को देह के नाम-रूप में पहचानना है। मानसिकता—उस समय का Mood या mode है। उदाहरणतः किसी का बच्चा पिता से पढ़ाई के विषय में कुछ पूछता है, एक मानसिकता में वह उसे डांट कर भगा देता है, किसी दूसरी मानसिकता में वह बड़े प्रेम से उसे समझाता है। दोनों में मानसिक स्थिति एक ही है, कि उसने स्वयं को देह के नाम-रूप के साथ पहचाना। लेकिन मानसिकताएँ पृथक्-पृथक् हैं। मानसिक स्थिति भी मन की है और मानसिकता भी मन की है।

भौतिक जगत में जिसे होश सम्भालना अथवा होश में आना कहा जाता है, वस्तुतः वह होश मेरी अवचेतनामयी होश है। इस होश में **'स्वप्न'** आता है, जो देखते समय सपना प्रतीत नहीं होता। हर स्वप्न सुषुप्ति में आता है। नींद से उठकर स्वप्न की स्मृति होती है, लेकिन सुषुप्ति की स्मृति, ज्ञान और अनुभूति नहीं होती। स्वप्न देखते समय स्वप्न की स्वप्नवत् प्रतीति नहीं होती, इसलिए स्वप्न की घटनाएँ सुख-दुःख पूर्ण मानसिकता की छाप छोड़ जाती हैं। यद्यपि जिसने स्वप्न देखा, वह वास्तव में तो सो रहा था। वह कहीं आया-गया नहीं, लेकिन उठने पर वह स्वप्न को स्वप्न घोषित करता हुआ भी पुनः अपनी निद्रा, न देख पाता है, न जानता है और न अनुभव करता है। इसलिए पुनः उसे ज्ञान नहीं होता, कि वह अभी भी स्वप्न देख रहा है। स्वप्न में जो भाग रहा है, वह जागकर ही भाग रहा है

और उसे नहीं पता कि वह वस्तुतः सो रहा है। स्वप्न का वर्णन करते समय वह जानता है, कि तब मैं वस्तुतः सोया हुआ था। तथाकथित जागृति में सद्गुरु-कृपा एवं निर्देशन में किसी भी प्रकार से अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना द्वारा ही **'मैं'** चेतनता की अनुभूति करता हूँ, तो मुझे अपने जीवात्मा स्वरूप की जागृति (Awareness) हो जाती है।

जप-तप, यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, ध्यान-समाधि आदि पुरुषार्थ कर्म ईश्वर द्वारा ही सम्पादित होते हैं। इन कर्मों के दौरान नाम-रूप की देह में होते हुए भी हमें अपनी चेतना का आभास हो जाता है। हमारा हृदय हर्षित, उल्लसित व उन्मादित होता है—यह होश हमारी वास्तविक जागृति की होश है, हमारी चेतन स्थिति है। प्रभु की असीम कृपा से जीवात्मा नाम-रूप की देह व जगत के सान्निध्य में किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से अपनी चेतनता की होश की अनुभूति करता है तो उसकी देह सहित तथाकथित असद् जगत **'सद्'** हो जाता है।

पाप-पुण्य, सुख-दुःख, मल-विक्षेप, आधि-व्याधि-उपाधि, रोग-दोष, भय-त्रास, प्रारब्ध आदि अवचेतना में ही हैं। इसमें जीव सपना सुनाते समय सुषुप्ति का वर्णन ही नहीं करता। एक तो स्वप्न देखते समय उसे यह ज्ञान ही नहीं होता, कि यह सपना है और दूसरे तथाकथित जागृति में स्वप्न सुनाते समय अपनी सुषुप्ति को भूल जाता है। इसलिए इसे हमने **सुषुप्ति की सुषुप्ति** कहा है। सारा जगत नाम-रूप की एक देह की अवचेतना पर आधारित है। यज्ञ-हवन आदि प्रकरण स्वाहा से प्रारम्भ होकर स्वाहा में चलते हैं और स्वाहा में ही समाहित हो जाते हैं। जो स्वाहा है, वह वाह-वाह है। देह और देह पर आधारित जगत का भोग भी तभी प्रारम्भ होगा, जब हमारी दृष्टि में उसका महात्म्य **'भस्मी'** के बराबर होगा। हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार में भी आपे से बाहर हो जाते हैं और भगवान के भजन, कीर्तन, जप-तप, यज्ञ-हवन, प्रभु की लीलाओं में समाहित होकर भी आपा खो देते हैं।

नशे में, अफीम आदि के प्रभाव में भी आपा खो देते हैं। दारू पीकर,

अफीम या गाँजा पीकर काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार के वशीभूत हो, व्यक्ति मदहोश हो जाता है। इस अवस्था में भी वह अपनी नाम-रूप की देह के आपे से बाहर हो जाता है, तो यह आपे से बाहर होना उसकी चेतनता नहीं, बल्कि घोर जड़ता होगी। जब मदहोशी में होश खोएँ, तो इस घोर जड़ता में जीव धीरे-धीरे अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना से भी गिर जाता है और पशुवत् आचरण करने लगता है। देह में लौटने पर देह टूटने लगती है, उससे घृणा करती है। व्यक्ति तनावित, भयभीत एवं विक्षिप्त हो जाता है। जब हम होश में होश खोएँ, यानि नाम-रूप की देह की अवचेतना में होते हुए उस अवचेतना को खोकर अपनी **चेतनता** में आएँ तो इसे **चेतनता** या Awareness कहा जाता है। तब वह देह **'सद्'** हो जाती है और जो असद् होता है, वह उसके जगत में नहीं टिकता।

जब तनिक सी चेतनता का जामन अवचेतनता को लग जाता है, तो जन्मों-जन्मान्तरों की अवचेतना, चेतनता में रूपान्तरित हो जाती है। चेतनता की ज़रा सी झलक, तनिक सी चिंगारी जीव को झल्ला बना देती है, फिर वह अवचेतनामय जगत की किसी भी विधा से समझौता नहीं करता। दही, दूध से बनता है और दूध को दही बना देता है। अब इस दही को पुनः दूध में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसके साथ दूध मिलकर दही ही बनेगा। एक बार चेतनता आ जाएगी, तो वह पुनः अवचेतना नहीं बनेगी। एक चम्मच दही में चाहे दस किलो दूध डाल दो, वह दूध नहीं बनेगा, बल्कि कालान्तर में सारे दूध को दही बना देगा। बिजली की कड़क के समान चेतनता की एक तनिक सी झलक, जन्मों-जन्मान्तरों की अवचेतना को चेतनता में रूपान्तरित कर देगी। यह चेतनता कभी अवचेतना में नहीं बदलेगी, क्योंकि एक बार आवरण हटने पर पुनः कभी नहीं पड़ता, यह दिव्य कानून है।

किसी भी नाटक या फिल्म को देखने का आनन्द तभी आएगा, जब हम पात्रों के मूल स्वरूप को अनदेखा करके जो बाना उन्होंने ओढ़ा है, उस नाटकीय रूप को उस समय वास्तविक मानें। तभी नाटक या फिल्म

का आनन्द लेकर हम नाटककार की वाह-वाह करेंगे। इसी प्रकार प्रभु ने जगत का प्रपंचमय खेल देखने के लिए अपने मानस-पुत्र जीवात्मा को एक मानव-देह दी, कि ''बेटा ! तनिक भ्रमित होकर सृष्टि का खेल देख और फिर आँखें बंद करके मुझे (ईश्वर) देख लेना। तभी तू इस भ्रममय संसार का आनन्द लेगा।''

महा दुर्भाग्यवश जीवात्मा इस मायामय संसार के भ्रम से भ्रमित हो गया। आँखें खोल कर इसने सृष्टि का अवलोकन किया और जब आँखें बंद की तो निद्रा के वशीभूत हो गया। इसके बाद सोकर उठा और संसार का खेल फिर देखा, तो यह स्वयं भी खो गया। इस प्रकार जीवात्मा संसार के भ्रम से भ्रमित हो गया, लेकिन अपने विशुद्ध आनन्दमय स्वरूप की स्मृति इसकी चेतना से लुप्त नहीं हुई। एक शहंशाह कितना भी लुट-पिट जाए, उसकी फितरत में शहंशाही रहती ही है। जीवात्मा का परमात्मा से परम मनोहारी, हृदयग्राही संवाद होता है। वह परमात्मा से पूछता है, कि ''तुम **स्रष्टा** हो और तुमने मुझे अपनी रचाई, पालित और संहारित सृष्टि का **दृष्टा** बनाया है। जैसे तुमने समस्त सृष्टि की विभिन्न विधाएँ बनाई, उसी प्रकार तुमने मुझे अपनी सृष्टि में दृष्टा का पद दिया। प्रभु ! मैं तुम्हारा महा प्रशंसक (Fan) हूँ। आपने बहुत उचित किया, मुझे दृष्टा बनाया। मैं अनुभव कर सकता हूँ, कि आपने अति चमत्कारी और अद्‌भुत सृष्टि बनाई है। मुझे इसमें आगे दिखाए जाने वाले दृश्यों के विषय में विशेष कौतूहल है। आपने जगत को देखने के लिए मुझे देह का बाना दिया, जो स्वयं में भ्रम है। तनिक भ्रमित होकर मुझे इस मायामय प्रपंच को देखना था।''

यहाँ जीवात्मा अपनी देह का सदुपयोग करते हुए देह से हट कर परमात्मा से वार्तालाप कर रहा है, कि ''हे प्रभु ! मैंने आँखें बंद की तो मुझे नींद आई, लेकिन वह नींद भी मुझे दिखाई नहीं दी। तुम तो मुझे नज़र आए ही नहीं, बल्कि मैं स्वयं भी खो गया। 'मैं' मरा तो मैंने अपनी मृत्यु नहीं देखी, मेरी देह खाक बनी, तो वह भस्मी भी मैंने नहीं देखी। हे कृपालु

! हे दीनानाथ ! मुझे तेरा बहुत भरोसा है, तू परम समर्थवान है, तू आनन्द में खेल रहा है। मैं प्रभु नहीं हूँ, मैं असमर्थ हूँ। मैं इससे प्रभावित होता हूँ। यश-अपयश, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ, मान-अपमान, उन्नति- अवनति, सत्-रज-तम् में बँध जाता हूँ। तुम अपने आनन्द में खेल रहे हो और अवश्य ही मुझे आनन्द में सब दिखाना चाहते हो। जब मैं स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानता हूँ, तभी तुम्हारी समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि को देखता हूँ, तभी इसकी प्रशंसा कर सकता हूँ। तुम्हारे रचाए इस माया जाल का मान रखने एवं साकार सृष्टि की प्रशंसा के लिए मुझे साकार नाम-रूप की देह बनना पड़ता है। तुम किसी भी समय कुछ भी दिखा सकते हो। तुमने सब कुछ आनन्द में ही प्रकट किया है। क्या मैं उसे आनन्द में देख पाऊँगा?''

यहाँ दृष्टा उस स्रष्टा के सम्मुख एक ज्वलन्त प्रश्न रखता है– ''तुमने मुझे संसार को देखने के लिए दृष्टा-भाव दिया है। हे पारब्रह्म परमेश्वर ! **'मैं'** तुम्हारे रचाए **भ्रम** को भ्रमित होकर देख रहा हूँ। तुमने मुझे **भ्रम** का दृष्टा बनाया है और तुम स्वयं **ब्रह्म** हो। तुम निराकार हो, मैं भी निराकार हूँ। तुमने इस भ्रम को देखने के लिए मुझे देह दी है, ताकि मैं तनिक भ्रमित होकर तुम्हारे खेल को देख सकूँ। परन्तु मैं भ्रम से इतना भ्रमित हो गया, कि मैं तेरे दर्शन का अधिकर भी खो बैठा। तूने इस जगत की स्वप्न-सृष्टि का दृष्टा मुझे बनाया, जो न थी, न है और न रहेगी। **'मैं'** तेरा दृष्टा क्यों नहीं बन सकता? नाम-रूप की अवचेतना को मैं भूला, देह सहित जगत नहीं रहा, लेकिन मैं तुम्हें नहीं देख पाया। इसीलिए मेरे नाम-रूप की देह की अवचेतना से स्वप्न-सृष्टि प्रकट हुई, जो मुझे मालूम नहीं था, कि यह स्वप्न है। जब देह भ्रम है, तो नेत्र खोलना और नेत्र मूँदना दोनों भ्रम हैं। मेरे नेत्र खुले तो देह सहित जगत प्रकट हुआ और मैंने नेत्र मूँदे तो देह सहित जगत समाप्त हो गया। तूने मुझे मेरी तथाकथित जागृति का दृष्टा बनाया, तो सुषुप्ति, मृत्यु और भस्मावस्था का दृष्टा क्यों नहीं बनाया। तूने कहा था, आँखें बन्द करके तू मुझे देख लेना,

लेकिन आँखें बन्द करके जब मैं अपनी निद्रा ही नहीं देख पाया, तो तुझे कैसे देखता? तुझे देखना, तेरा दर्शन, सान्निध्य तो दूर की बात है, मैं तो अपने से भी बिछड़ गया। जीवात्मा से तुच्छ जीव बनकर जीव-सृष्टि में न जाने कब से भटक रहा हूँ।'' बस यही जिज्ञासा एक बिन्दु है, जो हमें उसकी कृपा से समाधि में ले जाएगा।

जीवात्मा आर्तनाद करता है, कि ''मैंने आँखें खोलीं तो जगत मुझे पूरा नज़र आया। **हे प्रभु ! तुमने मुझे अपना दृष्टा क्यों नहीं बनाया?** भ्रमपूर्ण जगत देखने के लिए मुझे तेरे अवलम्बन की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, बल्कि मैं तेरे से दूर ही होता चला गया। मैं अपनी देह और जगत से तद्रूप होकर भ्रम से भ्रमित होता हुआ अपना आनन्द गँवा बैठा। मैं यह भी भूल गया, कि यह सब तू दिखा रहा है। मैने व्यास पीठ से सद् गुरुओं के श्रीमुख से सुना कि मैं तेरे उदरस्थ हूँ, तुममें ही हूँ। लेकिन मैं तो तुझसे दूर ही होता चला गया। तूने मुझे देह दी थी, जिसका समस्त प्रबन्ध तूने ही करना था। मुझे यह देह देने का **'अर्थ'** था। **तूने बहुत कुछ मुझे दिया, मैंने बहुत कुछ देखा, लेकिन मुझे तेरे से दूरी के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।** मेरी इस दुर्गति से तुझे कोई अन्तर नहीं पड़ा, लेकिन दृष्टा बनकर **'मैं'** तेरे से ही नहीं, खुद अपने से भी दूर हो गया और अपना सर्वस्व गँवा बैठा। **'तू'** निराकार है, **'मैं'** निराकार हूँ, और **'तू'** साकार है, तो मैं भी साकार हूँ। तूने मुझे साकार देह इसलिए दी थी, कि मैं साकार होकर तेरी साकार सृष्टि को देखूँ। इस समस्त सृष्टि में मुझे तू नज़र नहीं आया। मैंने तेरी सृष्टि में तेरे अतिरिक्त सब कुछ देखाः—

एक तू न मिला सारी दुनिया मिले भी तो क्या है,
मेरा दिल ना खिला सारी बगिया खिले भी तो क्या है।''

जीवात्मा साकार देह के सान्निध्य में साकार रूप में साकार देह से हटकर परमात्मा से बातें कर रहा है। ''हे प्रभु ! तू साकार सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करके निराकार में विलीन कर रहा है। पंच-महाभूतों से निर्मित, पालित व संहारित समस्त महाब्रह्माण्ड को तू

पंच-तत्त्वों में विलीन कर देता है। **'मैं'** साकार में फँसा। उस साकार सृष्टि का आधार एक देह तूने मुझे दी। **'मैं'** इसके साथ नाम-रूप में तद्‌रूप हो गया। **'मैं'** अमुक-अमुक हूँ, मेरा घर, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे, मेरी सम्पत्ति, मेरा नाम-यश, मेरी पोस्ट आदि-आदि।

देह, जगत सहित पंच-तत्त्वों में विलीन हो गई, लेकिन मैं फँसा ही रहा। तूने मुझे जगत सहित फिर देह दी और हर देह मेरे लिए परदा (देह परदे ह, देह परदे ह) बनती गई। **'मैं'** तेरा मानस-पुत्र हूँ, मैं निराकार था, निराकार हूँ और निराकार ही रहूँगा। **'मैं'** निराकार और **'देह'** साकार। **'मैं'** निराकार होते हुए साकार में कैसे फँस गया? तूने मुझे साकार सृष्टि का दृष्टा बनाया और मुझे साकार देह दी तथा **'मैं'** शब्द रूप में मुझे प्रकट किया। यदि साकार देह न होती तो **'मैं'** प्रकट नहीं होता। सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था, मूर्च्छावस्था में **'मैं'** प्रकट नहीं होता। यदि **'मैं'** साकार देह को न पहचानता तो **'मैं'** प्रकट ही न होता। **'मैं'** चेतन था, लेकिन जब **'मैं'** प्रकट हुआ, तो अवचेतन बन गया।

'मैं' शब्द रूप में आते ही ब्रह्म स्वरूप जीवात्मा से भ्रमपूर्ण जीव बन गया और प्रकट होते ही जो **'मैं'** (जीवात्मा) देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत, अजर, अमर, अविरल, चिरन्तन व निरन्तर मायातीत था, अपने गौरवपूर्ण पद से अपदस्थ हो गया। **'तू'** पारब्रह्म परमेश्वर है, तू नाम-रूप (राम, कृष्ण, शिव-पार्वती, अल्लाह, ईसा मसीह, गुरु नानक आदि) में प्रकट होकर भी ईश्वर ही रहा, लेकिन **'मैं'** शब्दरूप में प्रकट होकर जीवात्मा (ब्रह्मस्वरूप) से जीव (भ्रम) बन गया। अपनी पीड़ा **'मैं'** तुझसे न कहूँ तो किसे कहूँ? समस्त सृष्टि को बनाने वाला और मुझे दृष्टा बनाकर फँसाने वाला भी **'तू'** है:—

बेमुरव्वत बेवफा बेगाने-ए-दिल आप हैं,
आप माने या न माने मेरे कातिल आप हैं।''

इस सार्थक, सटीक, हृदयग्राही आर्तनाद से द्रवित होकर निराकार

पारब्रह्म परमेश्वर अति कृपालु होकर सद्‌गुरु के साक्षात् रूप में प्रकट हो जाता है और मुझे, मेरे निराकार स्वरूप की अनुभूति कराता है। जब हम अपने निराकार (जीवात्मा स्वरूप) की अनुभूति कर लेंगे, तब साकार इष्ट के निराकार के रहस्य को हृदयंगम कर पाएँगे और हम, 'मैं' (देह) और मेरा (जगत) के साकार बन्धन से छूटकर समस्त साकार का आनन्द लेंगे।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 17 से 19 मई, 2007)

आडम्बर

मानव-जीवन एक निश्चित अवधि से बँधा है और इस अवधि का किसी को भी ज्ञान नहीं है। देह के इस **'सद्'** को **'सद्'** की अनुभूति के लिए प्रयोग करना है। कोई भी क्षण जीवन का अन्तिम क्षण हो सकता है। हम अक्सर अपने किसी निजी प्रियजन अथवा सम्बन्धी से जब लम्बे समय के लिए बिछुड़ते हैं, तो उस समय एक विशेष अपनत्व का भाव होता है, कि पता नहीं फिर इससे मिलना सम्भव होगा या नहीं। इसी प्रकार यह विचार, कि आज का दिन मेरे जीवन-काल में अन्तिम दिन तो है ही, हो सकता है यह दिन मेरे जीवन-काल का अन्तिम दिन हो; हमें जीवन के **'सद्'** की ओर तुरन्त उन्मुख कर देता है। जन्मों-जन्मान्तरों से अस्त-व्यस्त और विश्रृंखल हम तुरन्त आत्म-चिन्तन की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

भगवान के सम्मुख बैठकर भी हमारा ध्यान इष्ट में इसलिए नहीं लगता, क्योंकि हम भविष्य की चिन्ताओं व अतीत के शोक में भटके रहते हैं। ध्यान के समय छोटी सी बात का ख्याल भी व्यथित कर देता है। अतः आत्म-चिन्तन के लिए प्रथम औपचारिकता है, कि देह-चिन्ता व शोक से पूरी तरह से मुक्त हो जाएँ। एक भविष्य होता है और एक भविष्य हम स्वयं अपनी बुद्धि व मन से खड़ा कर लेते हैं। जो भविष्य **हम** खड़ा करेंगे, उसमें अवश्य ही लिप्त हो जाएँगे। संसार में जितना भी हमारा बखेड़ा है, आज यह करना है, इतना पा लिया और भी पा सकता हूँ, मैं दुनिया को कुछ बन कर दिखा दूँगा आदि सब **प्रपंच** है। संसार में जो कुछ मेरे लिए और मेरे द्वारा स्वतः हो रहा है, अज्ञानवश उसका हम स्वयं को कर्ता मान लेते हैं। हमारे होश में

आने से पहले हमारी देह के निर्माण और पालन-पोषण में हमारा कोई हस्तक्षेप नहीं था। होश गुम हो जाने के बाद भी सब कुछ हमारी देह के लिए स्वतः ही होगा।

दुर्भाग्यवश, होश में आते ही, मैं स्वयं को देह के नाम-रूप से पहचानता हूँ, कि मैं अमुक-अमुक हूँ। इसलिए देह सहित जगत के आडम्बर में फँस जाता हूँ। मेरी **'मैं'** देहाडम्बर में लिप्त होकर एक नाम-रूप के साथ बँध कर समष्टि रूप जीवात्मा से तुच्छ जीव बन जाती है। मुझे मेरी व्यष्टिगत देह अपनी समष्टि **'मैं'** को trace करने के लिए मिली थी। जब जीवात्मा देह धारण करके **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होता तो जीवन के लिए निष्क्रिय होता है और जब अपनी **'मैं'** की अनुभूति कर लेता है, तो बाह्य दृष्टि से अति सक्रिय एवं जीवनोपयोगी होते हुए भी अपने भीतर से निष्क्रिय होता है। पहली निष्क्रियता जड़ता है, दूसरी निष्क्रियता दिव्यता है। सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति एवं मृत्यु में देह, **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होती, इसलिए इन स्थितियों में देह निष्क्रिय होती है। जब **मेरी 'मैं'** (विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप) मुझे अनुभूतिगम्य हो जाती है, तो मैं जाग्रत हो जाता हूँ।

मुझे मानव-देह मिली, जो स्वयं में प्रपंच है। पंच-महाभूतों से निर्मित, पालित एवं अन्ततः पंच-महाभूतों में विलयशील देह स्वयं में आडम्बर है। विभिन्न सम्बन्ध हैं, धर्म-कर्म-कर्तव्य हैं, रहने का स्थान, देश, समाज, जाति-पाति, शिक्षा-दीक्षा, पद-प्रतिष्ठा और भी बहुत सा सांसारिक ताम-झाम है, जो सब आडम्बर है। इस आडम्बर में से अपनी **'मैं'** को पहचानने के लिए ही आडम्बर मिला है। सारा आडम्बर देह का है, लेकिन उसके साथ **'मैं'** लगने से हमारी **'मैं'** (जीवात्मा स्वरूप) आच्छादित हो जाती है। एक ने कहा मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ, दूसरे ने कहा मैं छोटा सा मज़दूर हूँ। मैं छोटी या बड़ी नहीं होती, व्यक्ति छोटा-बड़ा स्वयं को मानता है। देह आडम्बर है, लेकिन **'मैं'** तत्त्व शाश्वत्, अविरल व चिरन्तन है तथा एक ही है।

सांसारिक प्रपंच एवं आडम्बर में से इस **'मैं'** तत्त्व को निथारने के लिए जीवात्मा को मानव-देह सहित जगत का प्रपंच मिला है। लेकिन

जन्मों-जन्मान्तरों में हम इस आडम्बर के साथ तद्‌रूप हो गए। आडम्बर से हमने देह का अम्बर निकाल कर अपने विशुद्ध स्वरूप को पहचानना है। यही **'दिगम्बर'** तत्त्व है। **'मैं'** का प्रयोग हमने जन्मों-जन्मान्तरों में देह के लिए किया। अतः देह व जीवन की एक ऐसी स्थिति लेनी है जो मेरे देशातीत, कालातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत एवं मायातीत सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर से मिलती-जुलती हो। पहली स्थिति है–**निद्रा**, दूसरी है–**मृत्यु**। लेकिन इन दोनों स्थितियों से स्वयं को तद्‌रूप करके हम नाम-रूप की सृष्टि से परे नहीं जा सकते, क्योंकि हमारी अपनी नाम-रूप की देह (निष्क्रिय एवं मृतक रूप में ही सही) हमारे सम्मुख होगी। यदि ध्यान में हम परम सद्‌गुरु-कृपा से अपनी निद्रा और मृत्यु की मानसिक स्थिति में प्रविष्टि पा भी लें, तो भी अपने नाम-रूप सहित जगत का स्वरूप हमारे साथ होगा। यद्यपि हमारी **'मैं'** का समष्टिगत स्वरूपञहमारी अनुभूति में आ जाएगा, लेकिन देह सहित नाम-रूपात्मक सृष्टि से हम परे नहीं हो पाएँगे।

हमारी नाम-रूप की देह की एक ही ऐसी स्थिति है, जो नाम-रूप से परे है। वह है–**'भस्मी',** जो देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है। भविष्य को ढोने का हमारा स्वभाव है। इसलिए इस भविष्य को क्यों उपेक्षित करें? Trace, trace and trace yourself untill and unless you loose all the traces of life. वह भस्मी है, जो जीवन का अन्तान्त है। ईश्वर ने मानव-देह सावधि दी है। इसकी निश्चित अवधि को पूर्णतः गुप्त रखा गया है। इसका विशेष अर्थ यह है कि जीवन के निश्चित, दर्शित एवं परिलक्षित भविष्य (अन्तान्त, भस्मी) को शीघ्रातिशीघ्र मानव आत्मसात् कर ले। सद्‌गुरु-कृपा से पहले उस भस्मी की अवधारणा करे और जितना भी जीवन है, उसमें उस अवधारणा की पुष्टि कर ले। जो मात्र कृपा-साध्य है।

जीवन **में** अन्य भविष्यों की हम कल्पना करते हैं, क्योंकि उनका होना सुनिश्चित नहीं है लेकिन देह की भस्मी होना कोई कल्पना नहीं है और जीवन-काल में उसका दर्शन प्रभु की अकारण एवं असीम कृपा से ही सम्भव

है। जीवात्मा को प्रभु-प्रदत्त मानव-देह का अर्थ यह है, कि जगत में कोई अन्य प्राणी यह अवधारणा नहीं कर सकता। जीवन की अवधि हमें पता नहीं है, इसीलिए जीवन-काल में जब देह के रहते हुए, देह **में** जीवन **के** भविष्य (भस्मी) की अवधारणा कर लेंगे, तो वहाँ से मानव-जीवन की सफलता का प्रारम्भ होगा।

पंच-महाभूतों से निर्मित मानव-देह हमें बिना कुछ किए मिली। मृत्योपरान्त जब देह पंच-तत्त्वों में विलीन होती है, तो छठा तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** प्रकट होता है। उसका मैं किंचित मात्र भी लाभ नहीं ले पाता, क्योंकि तब देह ही नहीं रहती। मेरी **'मैं'** तब उसी प्रकार प्रकट नहीं हो सकती, जैसेकि जीवन-काल में सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, गर्भावस्था, शैशवावस्था एवं मृतकावस्था में नहीं हो सकती थी। पाँचों तत्त्वों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश) से परे **'भस्मी'** तत्त्वातीत तत्त्व है। भस्मी की अवधारणा जीवन-काल में करने से छठे तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** का सदुपयोग प्रारम्भ हो जाएगा। देह के पंच-महाभूतों में विलीन होने के बाद प्रकट भस्मी जड़ होती है। देह के पंच-महाभूतों में लीन (संगमित) रहते हुए उसकी अवधारणा करने से पंच-महाभूतों में समानतया समाहित शिव की अतिशक्ति वैराग का प्रतिरूप वह अदृश्य भस्मी **'चेतन'** हो जाएगी।

पंच-प्राणों की महाशक्ति शिव की अतिशक्ति **वैराग** (भस्मी) से प्रस्फुटित हुई है। ये पंच-प्राण सहज जड़ पंच-महाभूतों के रूप में प्रकट होकर दृश्यमान हुए। सहज जड़ पंच-तत्त्वों को गति देने वाली शक्ति, शिव की विरक्ति ही है, जो इन पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में समानतया समाहित रहती है। इन्हीं पंच-तत्त्वों का चमत्कारिक संगम मानव-देह है, जो जीवात्मा को मिली है। यह अदृश्य भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व के रूप में प्रकट तब होती है, जब मेरी देह सहित पंच-महाभूतों की समस्त सृष्टि पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। तो मुझे शिव की विभूत्यातीत विभूति जो पंच-तत्त्वों की देह में अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित थी, उस तत्त्वातीत तत्त्व का लाभ ही क्या हुआ ! जब मैं देह धारणा में पंच-महाभूतों

की सृष्टि में लीन हूँ, तो मैं उस छठे महातत्त्व 'भस्मी' की शीघ्रातिशीघ्र अवधारणा कर लूँ। इसलिए परमात्मा ने मानव-देह को अवधि में रखा और वह अवधि छिपा कर रखी है। यह जीवन का **अर्थार्थ** है। जब जीवन के आडम्बर से मेरी **'मैं'** (जीवात्मा) निथर जाएगी, तत्पश्चात् वह देह जो आडम्बरयुक्त थी और **'अर्थ'** से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में भटक रही थी, वही अब आडम्बर मुक्त होकर **'अर्थ'** से धर्म, काम, मोक्ष की ओर स्वतः ही अग्रसर हो जाएगी। देह ही आत्म-चिन्तन एवं आत्मानुभूति कराती हुई ब्रह्म-चिन्तन एवं ब्रह्मानुभूति करवाएगी।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव–शक्ति महायज्ञ 26 मई, 2007)

भाव

भौतिक जगत अन्यथा नहीं है, यह आध्यात्मिक जगत का सोपान है। आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि के लिए भौतिक जगत की सिद्धि आवश्यक है, हम इसे उपेक्षित नहीं कर सकते। यदि करेंगे तो हमारी अपनी देह सहित जगत हमारी उपेक्षा करेगा और हम साकार जगत की विविध प्रपंचमयी विधाओं में ही उलझ कर रह जाएँगे। यह जगत हमें आध्यात्मिकता की तरफ तभी ले जाएगा, जब हमारे **शब्दार्थ** और **भावार्थ** का **अर्थ** एक ही हो जाएगा। जो हम कहते, सुनते, जानते, समझते हैं, उसे **शब्दार्थ** कहते हैं तथा उसके पीछे जो हमारी नीयत या भाव है, उसे **भावार्थ** कहते हैं। जब **शब्दार्थ** और **भावार्थ** में पूर्णतः समन्वय हो जाएगा, तो **यथार्थ** की श्रृंखला शुरू होगी। जो यथार्थ होगा, वह **हितार्थ** होगा और जो हितार्थ होगा, वह **अन्यार्थ** होगा; **अन्यथा** वह **स्वार्थ** होगा। स्वार्थ में कभी शब्दार्थ और भावार्थ एक नहीं हो सकते। स्वार्थी व्यक्ति की कथनी (शब्दार्थ) और करनी उसके अपने भावों (भावार्थ) से कभी मेल नहीं खाती। कथनी व करनी का शब्दार्थ **बुद्धि** बताएगी और उसके पीछे छिपे भाव **मन** बताएगा। हमें अपनी देह सहित जगत का दृष्टा बनकर अपनी हर सोच, कथनी, करनी और उसके पीछे छिपे भावों का पूरी ईमानदारी से और सजगता पूर्वक आकलन करना होगा।

आत्म-चिन्तन कोई हँसी-खेल नहीं है। हमें अपना प्रत्येक प्रकट अथवा अप्रकट विचार, भाव, वक्तव्य, कृत्य, अकृत्य, ख्याल, प्रकरण-अप्रकरण अलग होकर सतर्कता से देखना होता है। इसे ही **'दृष्टा-भाव'** कहते हैं।

सम्पूर्ण अध्यात्म का आधार आत्म-विश्लेषण है। जप-तप, ध्यान-धारणा, यज्ञ-हवन, तीर्थ-यात्रा, सद्‌गुरु-सेवा, भजन-कीर्तन, पूजा-उपासना, प्राणायाम-प्रत्याहार, धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन, प्रवचन-श्रवण, चिन्तन-मनन, नित्याध्यासन आदि पुरुषार्थ कर्म हम अपने आत्मोत्थान, किसी निजी स्वार्थ की पूर्ति या दिखावे के लिए करते हैं; इन प्रकरणों के पीछे छिपे अपने भावों को हम स्वयं ही जानते हैं। जो देह की चिन्ता करता है वह देह-चिन्तन नहीं कर सकता, आत्म-चिन्तन तो बहुत दूर की बात है। **चिन्तित** व्यक्ति कभी **चिन्तक** नहीं हो सकता। चिन्ताओं से निश्चिन्त व्यक्ति ही देह-चिन्तन द्वारा आत्म-चिन्तन कर सकता है। मैं कौन हूँ? यह चिन्तन है, इसके चार आयाम हैं—मैं क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, कब तक करूँगा और सब कुछ करते हुए जो मैं प्राप्त करना चाहता हूँ वह मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा? **आत्म-चिन्तक** इन चारों आयामों में चिन्तन करके देव-दुर्लभ स्वतः प्राप्त मानव-देह का सद्‌गुरु-कृपा से हर पल सदुपयोग करता है।

अपने कर्मों के पीछे छिपी अपनी नीयत या भाव के हम स्वयं ही निर्णायक होते हैं। दूसरों के सामने स्वयं को कुछ भी दिखा कर लोगों को भ्रमित करने से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता, हमारा अपना बहुत कुछ खो जाता है। यह बाहरी दिखावा हमें अधोगति में ले जाता है। हमारी show हमें off कर देती है। यज्ञ-हवन दान-पुण्य, स्वाध्याय, नित्याध्यासन, ध्यान-धारणा, तीर्थ-यात्रा, धार्मिक व आध्यात्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन, संत-सेवा, प्राणायाम-प्रत्याहार, जप-तप आदि **दैवीय प्रकरण** हैं। दैवीय-प्रकरण स्वतः भी होते हैं और किए भी जाते हैं। अक्सर हम ये प्रकरण करते हैं। पहले हमारे मन-मस्तिष्क में हर कृत्य की रूपरेखा बनती है। उसके साथ भाव जुड़ा रहता है और बुद्धि सामर्थ्यानुसार उसकी योजना बनाती है।

मन और बुद्धि के पारस्परिक सम्बन्ध ही हमारे बाहरी कृत्यों के रूप में प्रकट होते हैं। यदि किसी के वक्तव्य या कृत्य का भाव हमारे अनुकूल

नहीं होता, तो हम उससे सहमत नहीं होते। अनेक बार हम जल्दबाज़ी में कुछ कह बैठते हैं या कर लेते हैं, तो बाद में आत्मग्लानि और पश्चात्ताप होता है।

हमारे हर निर्णय के पीछे छिपे भाव का प्रभाव बाद में होता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। कभी-कभी हम किसी पर क्रोध करके अपने ही मन के विक्षेप को प्रकट करते हैं। हम कहते हैं, कि सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए, यहाँ सोच-विचार यह करना है, कि कहीं यह कार्य बाद में आत्मग्लानि में तो नहीं ले जाएगा। उस कार्य में महत्त्वपूर्ण और आन्तरिक रूप से प्रभावी तत्त्व **'भाव'** है; भावों का ही अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बुद्धि में विचार अपना भी हो सकता है और किसी के परामर्श से लिया हुआ भी हो सकता है, लेकिन मन के भाव उधार लिए हुए नहीं होते।

सभी लोग वक्तव्य में, शब्दों के चयन या वाक्य-योजना आदि में पारंगत नहीं होते। छोटे बच्चों के पास तो शब्द ही नहीं होते, लेकिन किसी भी स्तर पर भावों का प्रकाट्य होता ही है। इस प्रकार हमारे भाव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भाव मन का विषय हैं और बदलते रहते हैं। एक मानसिक भाव में कुछ शब्द प्रकट हो जाते हैं, दूसरी मानसिकता में उन्हीं शब्दों से आत्मग्लानि हो जाती है। हर शब्द, हर लेखन और हर कृत्य के साथ हमारा एक भाव अवश्य होता है। वाक-पटुता में शब्दों का चयन, वाक्य-योजना, शारीरिक भाव-भंगिमाएँ, मुखाकृति तथा शैली आदि अधिकतर हमारे भावों के अनुसार ही होती हैं। इस प्रकार आत्म-निवेदन, आत्म-प्रदर्शन, समस्त कृत्यों तथा जगत व्यवहार में हमारे अपने निजी भाव-जगत की विशेष भूमिका होती है।

हमारे निराकार मानस में संचित भावों का कृत्य रूप प्रकाट्य होता है। किसी के कष्ट पर हम दुःख प्रकट करें अथवा खुशी पर प्रसन्नता ज़ाहिर करें, यदि हमारे मन में उसके प्रति भाव नहीं है, तो उस व्यक्ति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह समझ जाएगा, कि हमने जगत-व्यवहार की दृष्टि से औपचारिकता का निर्वाह मात्र किया है। जहाँ बौद्धिकता का

बाहुल्य होता है, वहाँ अक्सर भावों की न्यूनता रहती है और जहाँ भावों का बाहुल्य या प्रधानता रहती है, वहाँ बौद्धिकता की कमी होती है। बौद्धिक प्रधानता में भाव शिथिल हो जाता है और भाव प्रधानता में बुद्धि शिथिल हो जाती है।

जीवन में सभी औपचारिकताएँ बुद्धि प्रधान होती हैं और स्थिति, समय, स्थान, वस्तु और व्यक्तियों पर निर्भर करती हैं। किस समय, किस व्यक्ति से, किसलिए, क्या और कैसे व्यवहार करना है, इस विषय में अक्सर मानवीय मन और बुद्धि में समन्वय नहीं होता। हमारे मानस पर देहधारणा के कारण बहुत से दुष्प्रभाव पड़े हुए हैं, जो जन्मों-जन्मान्तरों में हमारा स्वभाव बन चुके हैं। ईश्वर ने पंच-महाभूतों के साकार महाब्रह्माण्ड का प्रपंच हमारे लिए बनाया है, ताकि हम इसका लाभ उठाते हुए अपने निराकार मानस को आनन्द से हृष्ट-पुष्ट और तुष्ट कर दें। यह समस्त बाह्य साकार जगत हमारे आन्तरिक मानस के संशोधन एवं आनन्दमय रूपान्तरण के लिए है। **साकार से निराकार की ओर ले जाना वाला भौतिक जगत का सूक्ष्मतम विश्लेषण, अध्यात्म है। देह द्वारा हुआ कोई भी प्रकरण जो देहातीत ले जाए, वही आनन्द की अनुभूति है। उस भाव के साथ जो देह होगी, वह विदेह-देह होगी।**

जीव के मानवीय मन और मानवीय बुद्धि में समन्वयपूर्वक जब यह तड़प, अगन, बेचैनी, जुनून सा कौंधने लगे, कि इस जीवन का **'अर्थ'** क्या है? तो उसे **जिज्ञासा** कहते हैं। विश्व के हज़ार बुद्धिजीवियों को, जो सुपर जीनियस हों, उनसे एक ही प्रश्न का उत्तर अपनी-अपनी समझ से चार लाइनों में लिखने को कहा जाए, कि तुम्हें मानव-देह क्यों दी गई है, तुम्हारा जन्म क्यों हुआ है? उन सबके उत्तर अलग-अलग होंगे। इसका अर्थ है, कि इसका उत्तर किसी के पास नहीं है। पूरे मानव-जीवन का यदि किसी ने अपनी बुद्धि की उच्चतम सीमाओं से, ईमानदारी से, निष्पक्ष होकर गहनतम अध्ययन किया हो, तो वह यही कहेगा, कि मैं इसका उत्तर नहीं जानता। मानवीय बुद्धि इसका उत्तर नहीं खोज सकती, क्योंकि प्रश्न

जैसा लगते हुए भी यह प्रश्न नहीं **'जिज्ञासा'** है। इन जिज्ञासाओं के उठते ही आत्मचिन्तन का द्वार खुल जाएगा।

जिज्ञासाएँ प्रमुख रूप से दो प्रकार की होती हैं—कुछ जिज्ञासाएँ हमें चिन्तित, तनावित और भयभीत कर देती हैं और कुछ जिज्ञासाएँ हमें उत्साहित करती हैं। हमारी जिज्ञासा के नेपथ्य में हमारा जो मनोभाव है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने मनोभाव को हम स्वयं ही देख सकते हैं। कुछ जिज्ञासाओं के उत्तर हम पाना चाहते हैं, लेकिन प्रसन्न मन से उनके समाधान के लिए उत्साहित नहीं होते। हम स्वयं ही आत्म-विश्लेषण करके निर्णय ले सकते हैं, कि मेरे भीतर उठती जिज्ञासाओं का प्रारूप किस कोटि का है। दोनों प्रकार की जिज्ञासाओं से जो आन्तरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन्हें मैं अपने अनुभव से आपके समक्ष रख रहा हूँ।

मृत्यु क्या है? किसी ने अपनी मृत्यु नहीं देखी, दूसरों को हम मरते हुए देखते हैं। कुछ लोग मृत्यु से भय रखते हुए इसके बारे में जानना चाहते हैं, लेकिन प्रसन्न मन से जानने के लिए उत्साहित नहीं होते। कुछ लोग 'मृत्यु क्या है,' इसके बारे में जानने की उत्कण्ठा रखते हुए इसके बारे में जिज्ञासा रखते हैं। जीवन मुझे मिला है और कभी भी मुझसे छीन लिया जाएगा। तब मेरी देह सहित संसार मेरे लिए नहीं रहेगा। मैं खाली हाथ नंगा-भूखा पैदा हुआ और ऐसे ही मर जाऊँगा, तो क्या ईश्वर ने मुझे उत्कृष्टम् मानव-देह शून्य से प्रारम्भ करके शून्य ही रह जाने के लिए दी होगी? किसी भी जाग्रत मानव को यह जिज्ञासा अवश्य बेचैन कर देती है।

मानव-देह व मानव-जीवन स्वयं में ईश्वर-प्रदत्त सर्वोत्तम कैरियर है। यह बहुत ही सरल एवं सहज है। हम अपने विकृत मन-बुद्धि के हस्तक्षेप से इसे अस्त-व्यस्त, दुःखी, तनावग्रस्त एवं रोगों-दोषों से आवृत्त कर देते हैं। ईश्वर ने अपनी उत्कृष्टतम्, भव्यतम्, असमानान्तर, विशिष्टतम् संरचना जो मानव-देह हमें दी है वह किसी अन्य जीव-जन्तु जलचर, थलचर, नभचर को नहीं दी। जिनको ऐसी देह नहीं दी, उन्हें प्रभु ने वह बुद्धि भी नहीं दी, कि जिससे वे जीवन के अर्थ के बारे में सोच

सकें। वे प्रकृति के वशीभूत हुए ही जीते-मरते हैं। पशु, प्रकृति का बाध नहीं कर सकते, वे ईश्वरीय प्रकृति के वशीभूत हुए आनन्द में विचरण करते हैं। अपनी क्षमता एवं स्वभाव के अनुसार रहने के लिए घर भी बना लेते हैं, बच्चे भी पैदा करते हैं, उनके समर्थ होने तक उनकी पूरी देख-भाल भी करते हैं और मौज-मस्ती करते हुए अन्ततः मर जाते हैं। मानव को प्रभु ने उत्कृष्टतम्, परम विलक्षण बुद्धि मात्र इन सब कार्यों के लिए नहीं दी है। सद्‌गुरु कहता है कि ''यदि ईश्वर प्रदत्त बुद्धि का सदुपयोग करे तो तू अवश्य ही आश्वस्त हो जाएगा, कि तू कुछ भी नहीं जानता। जो भी तू कर रहा है वह ईश्वर करवा रहा है। तेरे होश में आने से पहले तेरे लिए समस्त ब्रह्माण्ड में विलक्षण कार्य हुए और तेरी होश गुम हो जाने के बाद भी सब कार्य होंगे। इसलिए होश के दौरान तू जान ले, कि सब कुछ हो रहा है। मानव होने के नाते, मानव-देह धारण करके तेरा मात्र इतना ही कर्म है।'' समस्त पुरुषार्थ कर्म सद्‌गुरु-कृपा से मात्र अपनी बुद्धि से बुद्धि का समर्पण करने के लिए होते हैं।

ईश्वर प्रदत्त विलक्षण बुद्धि से मानव ही प्रकृति का बाध कर सकता है। ऐसी विलक्षण मानव-देह का अर्थ भी अति विलक्षण ही होगा। विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते मैं असीम विधाओं की भी सीमित परिभाषा देने का इच्छुक रहता हूँ। किसी भी विधा, जिज्ञासा, भाव, विचार, प्रेरणा, व्यक्ति, अकृत्य या कृत्य में जब ईश्वर के **'सद्, चेतन व आनन्द'** का कोई भी अंग जुड़ जाए, तो उसकी परिभाषा सीमित सी होगी, लेकिन वह स्वयं में असीम होगा। उत्साह असीम है। **आनन्द मिश्रित कर्म का नाम उत्साह है।** जब भी कोई कृत्य उत्साहपूर्वक होता है, वह कार्य दैवीय ही होगा। उत्साहित व्यक्ति उत्साह को बेहिसाब Radiate कर सकता है। जब आनन्दमय मन में अति उत्साहित होकर जीवन का **'अर्थ'** जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाए, तो यह दैवीय घटना ही होती है। यह एक उत्तेजनापूर्ण आनन्दमय अनुभूति है।

जब जीवन का अर्थ हम स्वयं लगाते हैं, कि मुझे जीवन में यह बनना

है, बच्चों को यह बनाना है, मुझे जीवन-शैली व आर्थिक, सामाजिक स्तर की योजनाएँ बनानी हैं, वहाँ मन और बुद्धि में समन्वय हो ही नहीं सकता। जीवन का अर्थ हम स्वयं करोड़ जन्मों तक भी नहीं लगा सकते। हमें मानव-देह में ईश्वर ने अपनी चेतनामयी बुद्धि इसलिए दी है, कि इससे हम जान लें और मान लें, कि प्रभु ने अपनी उत्कृष्टतम् रचना मानव-देह हमें अति कृपालु होकर दी है, जिसका अर्थ हम नहीं जानते और सद्गुरु की कृपा के बिना जान भी नहीं सकते।

अध्यात्म में प्रविष्टि के लिए मन (भाव) और बुद्धि (विचार) में पूर्ण समन्वय होना परमावश्यक है। जीवन का **'अर्थ'** हम नहीं जानते, पहले इस विषय पर मन-बुद्धि में समन्वय हो और फिर किसी भी प्रकार से इसका अर्थ जानने के लिए कुछ भी करने में भी मन-बुद्धि में समन्वय हो तभी व्यक्ति वास्तविक जिज्ञासु व साधक होगा। आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि तभी सम्भव है। इसके बिना श्रद्धा (सद् को धारण करने की क्षमता) उत्पन्न हो ही नहीं सकती। आजीवन हमारी बुद्धि में कुछ करने, पाने, खोने के पीछे कुछ न कुछ बनने या होने का भाव रहता है, कि यह कर लूँ तो यह पा लूँगा, तो फिर मेरी जय जयकार हो जाएगी। इसलिए मन-बुद्धि में अधिकतर क्लैश (Clash) ही रहता है। मन-बुद्धि परस्पर विरोध करते हैं, कि पता नहीं कर तो रहा हूँ, लाभ होगा भी या नहीं। लेकिन जब मन और बुद्धि में समन्वयपूर्वक जीवन का अर्थ जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाएगी, तो मानव सोचेगा, कि देह प्रभु कभी भी वापिस ले सकता है, तो शीघ्रातिशीघ्र इसका जो विशेष प्रयोजन है, मुझे वह पा लेना चाहिए।

जीवन में जो कर रहा हूँ या करना चाहता हूँ, उससे कुछ प्राप्तियाँ होंगी अथवा मैं खोऊँगा, तो उससे जो कुछ भी होगा, अन्ततः मृत्योपरान्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा। प्रभु ने जीवन की अवधि छिपाते हुए भी मुझे प्रत्यक्ष दिखा दिया, कि तू कुछ कर या न कर, कुछ पा या न पा, तेरा कुछ हो या न हो, तेरी भस्मी अवश्य बनेगी। यह भस्मी किसी भी दिन बन

सकती है और हो सकता है, आज का दिन ही जीवन का अन्तिम दिन हो। इस विषय पर मन और बुद्धि में समन्वय अवश्य हो जाएगा। मन और बुद्धि दोनों कहेंगे, कि जीवन में कुछ भी करने के बाद कुछ पा भी लें, तो क्या हो जाएगा? जीवन में पहले भी इतना कुछ हुआ है, तो अब तक क्या हो गया? मन और बुद्धि दोनों को पूर्ण ज्ञान है, कि देह अन्ततः भस्मी ही बननी है, तब सब कुछ समाप्त हो जाएगा। इस विषय पर भी जिसके मन और बुद्धि में समन्वय नहीं हुआ, वे अध्यात्म में प्रविष्टि के अधिकारी ही नहीं हैं। जीवन में सब **होनों** का अन्ततः जो होगा, वह सबका एक ही होगा।

जीवन में इतना बड़ा प्रश्न चिन्ह देकर ईश्वर ने मानव-देह हमें दी है। यह Maintenance free, Duty free और Tax free है। तीसरे यह सावधि (अवधि सहित) है। ईश्वर द्वारा हमारी देह की अवधि हमारी सहायता करने के लिए ही घोषित नहीं की गई, ताकि हम शीघ्रातिशीघ्र मानव-देह के वास्तविक अर्थ की ओर प्रेरित हो सकें। ईश्वर ने अन्ततः जीवन का जो होगा, वह प्रत्यक्ष दिखा दिया। हम वह अन्त अपना तो नहीं देख पाते, लेकिन संसार में नित्य देखते हैं, सबकी अन्ततः डेढ़ दो किलो राख ही शेष रहती है। विचारशील जिज्ञासु मानव यह सोचता है, कि इस भस्मी में अवश्य ही कोई रहस्य है, जो प्रभु ने प्रत्यक्ष दिखाते हुए भी मुझसे परदा क्यों रखा? मेरा पिता विश्वनाथ करोड़ों महाब्रह्माण्डों का निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता है। वह इस भस्मी को ओढ़ता है और शमशान में बैठा रहता है। इसमें अवश्य ही कोई विशेष बात होगी।

जीवन **में** विभिन्न भविष्यों की हम कल्पना ही करते हैं, लेकिन मेरी देह की भस्मी होगी यह कोई कल्पना नहीं है। इस भस्मी में ईश्वर के समस्त गुण हैं—यह कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, धर्मातीत, मायातीत, लिंगातीत है। लेकिन मुझे इसका कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि जब यह बनती है, तो मैं देह के रूप में नहीं होता। जीवन के रहते मैं इसकी अवधारणा तो करूँ, ताकि अपनी भस्मी के गुणों

का कुछ उपयोग कर सकूँ। लोग **'कर-कर'** के **'मरते'** हैं, मैं पहले उस निश्चित भविष्य (मृत्यु) को आत्मसात् कर लूँ। जो जीवन के बाहर (देहातीत) है, उसका जीवन में ज़रा सा भी जामन लगने से हमारा कर्ताभाव समाप्त हो जाएगा और जीवन में करना, पाना, खोना और होना सब कुछ स्वतः होता रहेगा। हमारे जीवन की समस्त आसक्तियों में भस्मी की अवधारणा से विरक्ति का जामन लग जाएगा और धीरे-धीरे हमारी आसक्तियाँ विरक्ति में रूपान्तरित हो जाएँगी। विरक्ति ही वीरता है। देह का **'कुछ नहीं'** (भस्मी) बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसको जीवन के रहते, देह के **'सब कुछ'** में थोड़ा सा जामन लगाने से जीवन में हम जिस-जिस प्राणी, वस्तु या इनसे सम्बन्धित किसी विधा को **भाव** दिए हुए हैं, उसका **अभाव** हो जाएगा। **अभावमय भाव ही आनन्द है।** जब सब कुछ होते हुए उसका महत्त्व न रहे, तब जो भाव पैदा होगा, उसे **'आनन्द'** कहते हैं।

मन-बुद्धि का समन्वय ईश्वरीय होता है। ईश्वर सद्, चेतन और आनन्द है। जिस कार्य में मन-बुद्धि में समन्वय हो जाए, वह कार्य बिना किसी की सलाह लिए कर लीजिए। जहाँ मन-बुद्धि में clash न हो, वहाँ क्लेश नहीं हो सकता। हमें रात को सोते समय वही बात तनावित करती है, जिस पर हमारी बुद्धि व मन में समन्वय नहीं होता। काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, वैमनस्य आदि सब मानसिक भाव हैं। यहाँ बुद्धि थोड़ा बहुत हस्तक्षेप अवश्य करेगी। ये भाव जब स्वभाव बन जाएँगे, तो बुद्धि परे हट जाएगी। जब उस कार्य को बार-बार करते रहें, तो बुद्धि भी उसमें समर्थन देना शुरू कर देती है। तब वह भाव व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है। पहले बुद्धि विरोध करती है, भयभीत, व्याकुल, चिन्तित तथा शोकग्रसित करती है, लेकिन जब मन के विपरीत भावों का भी बुद्धि समर्थन करने लगती है, तो वे भाव, स्वभाव से संस्कार बन जाते हैं। यहाँ यह विश्लेषण बहुत सूक्ष्म है, क्योंकि कभी-कभी हमारे भाव बहुत शुद्ध होते हैं और बुद्धि जीव-भाव में हस्तक्षेप करती है। उदाहरणतः देश व समाज के लिए घर, परिवार एवं व्यक्तिगत सुखों को दाँव पर लगाने की बात पर

मानवीय बुद्धि अवश्य हस्तक्षेप करती है, कि परोपकार करने से पहले अपना घर देखो। लेकिन मन यदि बहुत सशक्त, ईश्वरीय आनन्द से ओत-प्रोत होगा और दृढ़ता से अडिग रहेगा, तो बुद्धि अवश्य ही परे हट जाएगी और अन्ततः समर्थन देने लगेगी। फिर परोपकार ही उस व्यक्ति का स्वभाव व संस्कार बन जाएगा।

सद्-चिन्तन के लिए परिवर्तनशील एवं तथाकथित असद् **देह व काल** के **'सद्'** को जानना अति आवश्यक है। नींव यदि सद् नहीं होगी, तो महापुरुषों, सन्तों के सान्निध्य का भी हम लाभ नहीं उठा सकेंगे। साधना, जप-तप, ध्यान-धारणा, यज्ञ-हवन, प्रवचन-श्रवण, मनन-चिन्तन, पठन- पाठन, स्वाध्याय-नित्याध्यासन आदि का आधार यदि **'सद्'** नहीं है, तो वह छलनी में पानी भरने की तरह है। वे न केवल व्यर्थ होंगे, बल्कि अनर्थकारी हो जाएँगे। सद्-प्रवचन, सद्-श्रवण के लिए हमारी नींव **'सद्'** होनी चाहिए। यह नींव है, हमारी मानसिक स्थिति, विचारों की स्थिति और कृत्यों की स्थिति। मन-बुद्धि दोनों के सम्बन्धों से जो क्रिया हुई है, वह **'सद्'** तब होगी, जब मन आनन्दमय और बुद्धि चेतना युक्त होगी। तभी इनमें परस्पर समन्वय होगा और इस समन्वय का प्रकाट्य सद् कृत्यों के रूप में होगा। वेद-शास्त्र, श्रुतियाँ-स्मृतियाँ, उपनिषद्, पुराण आदि जितने भी सद् ग्रन्थ हैं, इनका सद् अध्ययन तभी सम्भव होगा।

आई क्यू (I.Q.) में सीमित हमारी बुद्धि सीमित है। यह बुद्धि असद् नहीं है, लेकिन इसका सद् यह है, कि यह सीमित है। एक बार अपनी इस बुद्धि से यह जान लें, कि यह सीमित है, तो यही बुद्धि **'सद्'** की ओर ले जाएगी। जिस प्रकार कि हमारी शारीरिक शक्ति सीमित थी, सीमित है और सीमित ही रहेगी, उसी प्रकार बौद्धिक शक्ति भी सीमित ही है। यह सीमित है, इसका ज्ञान भी बुद्धि से ही होगा। यदि हमें अपनी सोच की सीमा का ज्ञान नहीं है, तो जो भी ज्ञान है, उसे **'बद्ध ज्ञान'** कहा जाएगा। हम अक्सर ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, कि प्रभु हमें सद्बुद्धि दो परन्तु बुद्धि जब पूर्णतः समर्पित होती है, तो सद् हो जाती है।

प्रभु के समक्ष रोते हुए समर्पण करने पर प्रभु हमारा असद् मानवीय मन और बुद्धि को सद् मन एवं सद् बुद्धि में रूपान्तरित कर देते हैं। सद्गुरु के पास जो श्रद्धा एवं समर्पण भाव से जाता है, उसका मन एवं बुद्धि धीरे-धीरे सद् में रूपान्तरित हो जाते हैं और धीरे-धीरे सब असद् स्वतः ही छूटने लगता है। अतः अपने मन-बुद्धि से अपने मन-बुद्धि का समर्पण आवश्यक है। सद्गुरु स्वयं ही वक्ता, श्रोता और प्रबन्धकर्ता बनता है। सद्गुरु द्वारा इस अन्तिम सद् की स्वीकृति की पुष्टि, प्रामाणिकता और सत्यापन हो जाए, इसलिए प्रभु ने मुझ जीवात्मा को अति उत्कृष्ट, परम विलक्षण एवं अति रहस्यमय मानव-देह देकर उपकृत किया है। यही सिद्धि है और यही आनन्दमय जीवन है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 20 से 23 और 29 मई, 2007)

प्रकरण

भौतिक जगत, आध्यात्मिकता का सोपान है। ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। आध्यात्मिक जगत का कोई प्रारम्भ या अन्त नहीं है। इसमें प्रविष्टि अनन्त, असीम एवं अखण्ड आनन्द है। यदि हम आत्म-चिन्तन के जिज्ञासु हैं, तो हमें भौतिक जगत की भी हर विधा का पूर्ण **'सद्'** ग्रहण करना होगा। हम किसी भी ईश्वरीय क्रिया के रहस्यों का वर्णन अपनी बुद्धि से नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड अदृश्य एवं निराकार में होती शिव-शक्ति-क्रीड़ा के आनन्द का प्रतिफल हैं। एक×एक= एक, एक+एक=दो, एक÷एक=एक, एक–एक=शून्य, 1 और 1=11 यह भौतिक गणित गणना है। ईश्वर एक से अनेक बना है और अनेकों में एक है। All in one and one in all यह **'एक'** की अध्यात्मिक गणना है, जो गणनातीत है। यह **'एक'** का **'सद्'** है।

भौतिक, महाभौतिक, अतिभौतिक के बाद जहाँ भौतिक शब्द हट जाए, वहाँ समस्त सीमाएँ पार हो जाती हैं। भौतिक से अतिभौतिक में आने के बाद जीव जब कुछ ऐसा पाना चाहता है, जो भौतिक व सीमित द्वारा नहीं पा सकता, उस समय परम सद्गुरु-कृपा से उसकी समस्त शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का, उसकी अपनी शक्तियों द्वारा ही समर्पण हो जाता है। तब उसकी आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि हो जाती है। हम स्वयं में आत्मविश्लेषण करे, कि मैं भौतिक जगत में कहाँ हूँ, क्या व क्यों चाहता हूँ, क्या कर रहा हूँ, सब कुछ करने के बाद यदि इच्छित पदार्थ प्राप्त कर भी लूँ, तो क्या हो जाएगा? हम अपनी बुद्धि से जान लें और मन से मान लें, कि

ईश्वरीय सृष्टि की संरचनाओं और रहस्यमय विधाओं को न हम जानते हैं और न जान सकते हैं। वहाँ से हमारा मन और बुद्धि ईश्वरीय आनन्द व चेतनता से युक्त हो जाएँगे। इन दोनों के समन्वय से **'सद्'** का प्राकट्य होगा।

'शिव' स्वयं में अदृश्य है और उसकी शक्ति अनेक रूपों में दृश्यमान है। वह सच्चिदानंद है और कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत, मर्यादातीत, मायातीत एवं ब्रह्माण्डातीत है। कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता स्वयं **'शिव'** है। वह साकार एवं निराकार दोनों में छः दिव्य विभूतियों से विभूषित है—सौन्दर्य, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग। शिव स्वयं में वैराग है। वैराग शिव की निहित अतिशक्ति है। इससे पंच-प्राणों (प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान) की महाज्योति का अभ्युदय होता है। अतिशक्ति और महाशक्ति में स्वतः, स्वान्तः सुखाय और स्वयं में ब्रह्माण्डातीत हुई शिव-शक्ति-क्रीड़ा के आनन्द का भौतिक प्राकट्य ब्रह्माण्ड में पंच-महाभूतों के रूप में होता है। **प्राण** प्राण से **अग्नि, अपान** प्राण से **वायु,** समान प्राण से **पृथ्वी, उदान** प्राण से **जल** और **व्यान** प्राण से **आकाश** प्रकट होते हैं और अतिशक्ति **'विरक्ति'**, अदृश्य भस्मी के रूप में इनके कण-कण में समानतया समाहित हो जाती है।

यह पाँचों महाभूत स्वयं में सहज जड़ हैं। स्वयं में सहज जड़ इन पंच-महाभूतों की चेतना व ऊर्जा **'शिव'** के वैराग की प्रतिनिधि अदृश्य **'भस्मी'** है। जहाँ यह अदृश्य भस्मी संघनित हो जाती है, वहाँ पंच-महाभूतों की किसी वस्तु, प्राणी अथवा इनसे सम्बन्धित किसी भी विधा में अमूल्यता एवं चमक प्रकट होती है। शिव की अतिशक्ति विरक्ति का प्रतिरूप यह अदृश्य भस्मी ही पाँचों महाभूतों का समस्त नियन्त्रण करती हुई, पंच-तत्त्वों की प्रपंचमयी (मायिक) सृष्टि का निर्माण और पालन करती है। अन्ततः संहार के बाद सृष्टि को पंच-तत्त्वों में विलीन कर देती है, तब वह अदृश्य चेतन भस्मी ही जड़ भस्मी के रूप में प्रकट हो जाती है।

पंच-महाभूतों में समाहित अदृश्य भस्मी ही वैराग है। शिव की अतिशक्ति **'विरक्ति'** पंच-महाभूतों की प्रपंचमय चराचर सृष्टि के कण-कण में अदृश्य भस्मी के रूप में उसी प्रकार सर्वव्याप्त है, जिस प्रकार दूध के कण-कण में अदृश्य घी व्याप्त रहता है। अदृश्य भस्मी के रूप में शिव का वैराग ही पंच-महाभूतों में प्रकट समस्त ब्रह्माण्ड की दशानन (चिरन्तन, निरन्तर, अविरल, अकाट्य, अबाध, अति सारगर्भित, संक्षिप्त, परम विशिष्ट, गुणात्मक एवं उद्देश्यात्मक) गतियों का कारण है। पंच-महाभूतों में यह समस्त क्रियान्वयन अदृश्य रूप में होता है, साकार में उसका मात्र प्रकाट्य होता है।

पंच-महाभूतों की साकार सृष्टि हमारे लिए प्रकट होती है। समस्त प्रक्रिया हमारे लिए गुप्त रूप से होती है और अदृश्य रहती है। जब हमने होश सम्भाला, हमारे लिए हमारी अपनी देह सहित समस्त सृष्टि प्रकट हुई। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश स्वयं में निराकार हैं। इन्हीं से जीव-जन्तु, जलचर, थलचर, नभचर और असंख्य मानवों की चराचर व जड़-चेतन साकार सृष्टि बनती है, जो हमारे लिए प्रकट होती है। पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ और विभिन्न रूपों में असंख्य प्राणी-जगत पंच-महाभूतों से बना है, लेकिन उस क्रियान्वयन को किसी ने नहीं देखा। वह गुप्त एवं अदृश्य रहता है। परमात्मा के जितने भी कार्य हैं, वे अत्यन्त सूक्ष्मता एवं कुशलता से रहस्यमय गुप्त रूप से होते हैं। पतझड़ के बाद पेड़ के पत्ते झड़ जाते हैं, तो उनमें नए अंकुर फूटते हैं। हम चौबीस घण्टे भी पौधे के पास बैठे रहें और लगातार देखते रहें, लेकिन हम उन अंकुरों का फूटना और बढ़ना नहीं देख सकते।

पंच-महाभूतों में समस्त क्रियान्वयन इनमें निहित शिव की विरक्ति शक्ति (अदृश्य भस्मी) से होता है। चाहे वह मानव-देह हो, धातुएँ-अधातुएँ हों, जीव-जन्तु हों, वनस्पतिया-पेड़-पौधे हों, मूल्यवान रत्न, हीरे-मोती आदि हों, उस निर्माण के पीछे ऊर्जा अथवा प्राण-शक्ति शिव का वैराग अथवा अदृश्य चेतन भस्मी ही है। यह अदृश्य भस्मी जहाँ संघनित हो जाती है, वे वस्तुएँ

बहुमूल्य हो जाती हैं। कोयला और हीरा दोनों कार्बन हैं। कोयला लाखों वर्ष ज़मीन में गड़ा रहे, तो हीरा बन जाता है। कोयले से हीरा बनने की इस क्रिया को किसी ने नहीं देखा। वैज्ञानिकों ने ईश्वर-प्रदत्त अपनी समस्त बुद्धि ईश्वरीय प्रक्रिया के अनुमानों में लगा दी। आध्यात्मिक **'सद्'** यह है, कि वहाँ भस्मी का संघनन हुआ, जिससे हीरा बहुमूल्य हुआ। कितने ही पत्थर, धातुएँ-अधातुएँ करोड़ों वर्षों से पृथ्वी में दबी हुई हैं, वे सब हीरा क्यों नहीं बन जातीं ? हीरा कब कोयला था, कितना गहरा और कितने वर्ष ज़मीन में दबा रहा, यह सब वैज्ञानिकों का अनुमान मात्र है।

ईश्वर की सृष्टि में जितना भी क्रियान्वयन होता है, उसके बारे में मानव ने मानव-बुद्धि से सोचा है। अनुमान लगाएँ है, लेकिन देखा किसी ने नहीं। देखा भी हो, तो भीतर क्या-क्या क्रियाएँ क्यों और कैसे चल रही हैं, मानव-बुद्धि जान ही नहीं सकती। जब हम भौतिक रूप से किसी भी संरचना का परीक्षण करते हैं, तो उसका आध्यात्मिक पक्ष आच्छादित हो जाता है। पंच-महाभूतों के संगम से ही एक मानव-देह बनी, अन्य जीव-जन्तु बने व वनस्पतियाँ बनी। तो सूअर शेर क्यों नहीं बना, पौधा मानव-देह क्यों नहीं बना, इसका निर्माण किसने और क्यों किया? प्रत्येक क्रिया यदि दृश्यमान भी हो, तो एक ही क्रिया का प्रतिफल पृथक्-पृथक् क्यों होता है ? इस समस्त चराचर जगत के बहुरूपी प्राणी-जगत के निर्माण के पीछे कारण कौन है? महा दुर्भाग्य है, कि मानव अपनी तुच्छ बुद्धि से अनेक अनुमान लगाता है, लेकिन अपनी बुद्धि का समर्पण नहीं करना चाहता। इसीलिए मात्र भौतिक जगत में ही भटकता रहता है।

ईश्वर ने हमें मानव-देह में विलक्षण और सब प्राणियों में पृथक् बुद्धि यह जानने के लिए दी, कि तू इसका अर्थ नहीं जानता, इसलिए **'अर्थार्पण'** कर दे, शेष कार्य ईश्वर कर ही रहा है। जिस देह के भीतर होती हुई असंख्य क्रियाओं को हम नहीं जानते, तो बाहर जो क्रियाएँ होती हैं, उनका अर्थ हम कैसे जान सकते हैं ! जहाँ हममें कर्ता भाव आ जाता है, तो हम स्वतः होती ईश्वरीय अदृश्य प्रक्रिया में हस्तक्षेप करते हैं। किसी भी प्रकरण के

क्रियान्वयन के लिए शक्ति अपेक्षित है। समस्त ब्रह्माण्ड निर्मित नहीं हैं, बल्कि प्रकट हैं।

एक आर्किटैक्ट घर का नक्शा बनाता है, उसके लिए उसे कोरा कागज़ चाहिए। निराकार कागज़ पर घर के नक्शे का डिज़ाइन बनाता है और तद्नुसार उसका साकार घर के रूप में प्रकाट्य होता है। हमें जब कोई कृत्य करना होता है उसका अज्ञात रूप से हमारे मानस में, बुद्धि द्वारा स्वीकृत एक प्रारूप पहले बनता है। जो कृत्य के रूप में बाह्य प्रकट होता है। किसी दर्जी को सीने के लिए कपड़ा दो, तो पहले वह उसका नाप, डिज़ाइन आदि लेता है। फिर उसे बनाकर हमारे लिए प्रकट कर देता है। मध्य में जो कृत्य हुआ वह हमारे लिए अज्ञात था। ऐसा ही किसी भवन-निर्माण के समय होता है। हमने प्लॉट खरीदा और आर्किटैक्ट से डिज़ाइन बनवा कर विश्वसनीय ठेकेदार या बिल्डर को दे दिया। हमारे लिए बनी-बनाई बिल्डिंग समय पर प्रकट हो जाती है। निराकार से साकार में प्रकाट्य के मध्य **की** कड़ी **कृत्य** है।

साधारणतः जो कृत्य है, वह हमारे लिए अदृश्य (गुप्त) रहता है और प्रकाट्य दृश्यमान होता है। निराकार कपड़े और साकार सूट में कोई सीधा तालमेल दृष्टिगत नहीं होता। जितना भी कृत्य हुआ, वह हमारे लिए अज्ञात व गुप्त रूप से हुआ। माँ के गर्भ में नौ महीने क्या-क्या कृत्य हुए, वे हमारे लिए गुप्त एवं अज्ञात थे। हमारे लिए शिशु देह का प्रकाट्य हुआ। यह नौ महीने का समय भी हम गणना में नहीं लाते और व्यवहार में आयु की गणना भी प्रकट (जन्म) होने के काल से करते हैं। हर देह प्रकट होती है, क्योंकि निर्माण गुप्त रूप से होता है। जब हमने होश सम्भाला तो हमारे लिए देह सहित जगत प्रकट होता है। मध्य में जो कृत्य की कड़ी है, वह गुप्त व अज्ञात है। जब कोई वस्तु हम अपने किए गए कृत्यों के अभिमान से पाते हैं, तो वह **'पाना'** भी हमारे लिए कष्टदायी ही होगा। उसका भोग तो हम कर ही नहीं सकते, बल्कि वह प्राप्ति ही हमारे तनाव का हेतु बनी रहेगी।

कृत्यों के गुप्त होने से तात्पर्य है, कि आपके द्वारा कृत्य पूर्ण समर्पण भाव से हो, कि प्रभु आप करवा रहें हैं। यदि हम संसार को छोड़कर, छुटकारा पाना चाहते हैं, तो वह कभी सम्भव नहीं है। हमने जन्मों-जन्मान्तरों में देह ली। घर, परिवार विभिन्न सम्बन्ध हुए, धन-सम्पदा एकत्र की, नाम-यश हुआ, कुछ पाया, कुछ खोया और बहुत कुछ होता-हवाता रहा, लेकिन मुझे क्या मिला? **'मैं'** ये सब क्यों करता हूँ, क्या चाहता हूँ? कब तक करूँगा ? और जो पाना या खोना चाहता हूँ, वह हो भी गया तो अन्ततः क्या हो जाएगा? सबसे महत्त्वपूर्ण अंग यह है, कि अन्ततः क्या हो जाएगा? यदि मुझे कोई इच्छित वस्तु, प्राणी, पदार्थ अथवा इनसे सम्बन्धित विधा मिल भी गई अथवा जिनसे छुटकारा पाना चाहता हूँ, वह छूट भी गई, तो क्या हो जाएगा? जिनको वे वस्तुएँ प्राप्त हैं, क्या वे आनन्दित हैं? यदि किसी पद, सन्तान अथवा संसार की किसी भी विधा को पाने के लिए मैं अति लालायित भी हूँ, तो जिन्हें वह प्राप्त हैं,, उनको तो देखूँ क्या वे सुखी हैं? जब हम इच्छित वस्तु पा लेते हैं, तो भी हमें जीवन का आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि सन्तुष्टि नहीं मिलती। और-और की चाहत भटकाती रहती है, अन्ततः किसी न किसी आसक्ति को लेकर हम मर जाते हैं और उसी आसक्ति को लिए पुनः देह धारण करते हैं। फिर शून्य से जीवन प्रारम्भ करते हैं।

कर्ता भाव के कारण हमारा समस्त जीवन प्रायः आनन्द-शून्य रहता है और हम मात्र सुखों-दुःखों में भटकते रहते हैं। यह सब मैंने किया है, मैंने करना है, मैंने छोड़ना है, मैंने छोड़ दिया। यह जो हुआ है वह मेरी गुणवत्ता, चतुरता, योजनाओं, सर्वगुण सम्पन्नता, बुद्धिमत्ता और व्यवहार-कुशलता के कारण हुआ है। यही दृष्टिकोण हमारी अधोगति का कारण बन जाता है। हम सब भली-भाँति जानते हैं, कि हमारे होश सम्भालने से पहले हमारी अपनी देह सहित समस्त जगत प्रकट हुआ था। इस समस्त प्रकाट्य के लिए जो-जो भी कृत्य हुए, वे हमारे लिए अदृश्य व अज्ञात रहे और हमारी होश गुम (मृत्यु) होने पर अर्थी, शमशान, चिता आदि सब कुछ प्रकट होगा। मेरे लिए सब कुछ अज्ञात व अदृश्य ही होगा। जीवन में सबसे बड़ी प्राप्ति

'छुटकारा' है, कि जो कुछ हमारे लिए अथवा हमारे द्वारा हो रहा है, उसके लिए निमित्तता का भाव भी समाप्त हो जाए। **'छुटकारा'** एक अदृश्य दस्तावेज है। जब तक यह नहीं मिलेगा, तब तक संसार में किसी भी वस्तु का भोग हमारे लिए वर्जित ही रहता है। हम तथाकथित सुखी से हुए जन्म दर जन्म भटकते रहते हैं। सृष्टिकर्ता का यह नियम है, कि जहाँ हमने रंच मात्र भी अपना अहं अथवा अपने में कर्ता व कारण का भाव मान लिया, हम संसार की किसी भी वस्तु का भोग कर ही नहीं सकते। आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के कृत्यों में महा रहस्य छिपे हैं।

जो कृत्य हम कर रहे हैं, उन्हें अपने से भी अज्ञात रखें। यह कैसे हो? हमारे भीतर इतना समर्पण भाव हो, कि निमितता भी न रहे, कि प्रभु ! यह सब कुछ मैं नहीं कर रहा, यह सब कुछ आपकी इच्छा, कृपा एवं शक्ति से हो रहा है। यह कृत्य आप किसी से भी करवा सकते हैं। फिर काम में कुछ विलम्ब हो जाए, त्रुटि हो जाए या हानि हो जाए, तो भी हममें ग्लानि भाव नहीं रहेगा। उसे भी हम प्रभु-इच्छा मान कर आनन्द में ही रहेंगे। कृत्य के दौरान होने वाले तनाव, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, उत्तेजना, हड़बड़ाहट, अस्त-व्यस्तता, वैर, क्रोध आदि मानसिक प्रतिक्रियाओं का कारण हमारा **कर्ता भाव** ही होता है। जो हम समझते और मानते हैं, कि मैं कर रहा हूँ, वह मेरे द्वारा करवाया जा रहा है। जो करवाया जा रहा है, वह हो रहा है और जो हो रहा है, वह हो चुका है।

देह के भीतर की समस्त कार्य प्रणालियाँ अज्ञात रूप से सुचारू चलती रहती हैं। हमारे लिए वे क्रियाएँ स्वतः होती है, परन्तु कोई शक्ति इन्हें करा रही है। वह ईश्वर देह के भीतर वे सब क्रियाएँ इसलिए कर रहा है, ताकि कुछ कृत्य बाह्य प्रकट हों। हर कृत्य स्वतः होता है और समष्टि में होता है। हमसे (व्यष्टि रूप में) जो करवाना होगा, वह करवा ही लेगा। हमारी समस्त ज्ञात बाह्य क्रियाएँ उन असंख्य अज्ञात क्रियाओं का प्रतिफल हैं। साथ ही बाह्य ज्ञात क्रियाएँ हमारे अपने मन और बुद्धि के सम्बन्धों की स्वीकृति से होती हैं। हमारे अपने मन और बुद्धि को हमारी देह के भीतर

चलने वाली असंख्य अज्ञात क्रियाओं का कोई ज्ञान नहीं है, लेकिन हमारे अपने मन-बुद्धि का हस्तक्षेप उनकी सुचारु गतिविधियों को असन्तुलित अवश्य करता है। अपनी बाह्य क्रियाओं के दौरान तनाव, चिन्ता आदि मानसिक प्रतिक्रियाएँ देह के भीतर अज्ञात एवं अदृश्य रूप से चलने वाली असंख्य क्रियाओं को असन्तुलित कर देती हैं। हमारी देह में प्रकट होने वाले भयंकर रोगों का कारण भी यही असंतुलन है। कभी-कभी चिन्तित होने, क्रोधित होने पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, खून का दौरा सुचारु नहीं हो पाता।

ईश्वर ने इस संसार महानाट्यशाला में माया की चौरासी लाख विधाएँ या योनियाँ रखी हैं। हमारे मनीषियों ने इन्हें **'ध्यान'** में देखा है। अक्सर हम टीवी देखते हुए चैनल बार-बार बदलते रहते हैं, जब तक हमारी पसन्द की चैनल नहीं मिलती। जब मिल जाती है, तो स्थिर होकर देखते हैं। हम संसार में धक्के खाते रहते हैं, क्योंकि हमें हमारा मनचाहा कुछ भी मिल जाने पर भी सन्तुष्टि नहीं मिलती। हम नई-नई वस्तुएँ चाहते हैं या बदलते रहते हैं। बार-बार नौकरियाँ, घर, स्कूल, कॉलेज आदि बदलना हमारी इसी मानसिक अस्थिरता का द्योतक है। हम मायापति (एक लिंग या देवाधिदेव महादेव) से विमुख से होकर 84 लाख योनियों में जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं। सद्‌गुरु-कृपा से यज्ञ-हवन, दान-पुण्य, जप-तप, ध्यान-समाधि, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, भजन-कीर्तन आदि पुरुषार्थ कर्म इन मायिक विधाओं की आनन्दमय प्रस्तुति व अधिग्रहण के लिए होते हैं। फिर समस्त प्रकाट्य आनन्दमय ही होता है।

एक इच्छा की पूर्ति अन्य हज़ारों इच्छाओं को जाग्रत कर देती है। यह **'अर्थ'** हमारे आज के मानव-जीवन का आधार है एवं सर्वोपरि है। इससे नीचे के सोपान पर **'निरर्थ'** है। यहाँ अति असन्तुष्टि के कारण हम माया की विधाओं के प्रेरक, संचालक और निर्देशक ईश्वर से विमुख होकर कर्ता भाव से कार्यरत रहते हुए, माया की विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत बहुत कुछ पाते हैं, लेकिन उनका **भोग** नहीं कर पाते। हमारे सामने उनका भोग अन्य वे

लोग करते हैं, जिन्हें हम नहीं चाहते, लेकिन कुछ कर नहीं पाते। इससे नीचे के सोपान पर **'व्यर्थ'** है, जहाँ हमें इच्छित वस्तु ही नहीं मिलती। सब परिश्रम व्यर्थ जाता है। अन्त में **'अनर्थ'** में पहले से प्राप्त वस्तुएँ भी चली जाती हैं और यहाँ से अनन्त व असीम अधोगति होने लगती है।

'अर्थ' सर्वोपरि है, लेकिन सर्वाधिक नहीं है। अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ भी क्रमबद्ध सोपान नहीं हैं। कभी-कभी जीव अर्थ से सीधा अनर्थ में भी चला जाता है, अर्थ से व्यर्थ में भी आ सकता है। हमें स्वयं अपना विश्लेषण करना चाहिए, कि मैं **'अर्थ'** से कितना गिरा हुआ हूँ। जीवन का आधार **'अर्थ'** है। जीवन के **'अर्थ'** से अवगत होने पर हमें **'कर्म'** की वास्तविक परिभाषा का ज्ञान होगा।

हमारा सम्पूर्ण जीवन होश सम्भालने से, होश के दौरान और होश गुम होने तक **करना, पाना, खोना और होना**—चारों आयामों में घूमता है। चारों का परस्पर दूर तक कोई भी सम्बन्ध नहीं है। हम भ्रमित हैं, कि हमने करके कुछ पाया अथवा हमारा ऐसा करने से ही अमुक वस्तु या प्राणी, पद, स्थान आदि से पीछा छूटा। मेरे ऐसा करने से ही ऐसा हुआ, जब तक यह भ्रमित मान्यता रहेगी तब तक हम भौतिक जगत की सीमाओं में ही घूमते रहेंगे। करने, पाने, खोने और होने में कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका ज्ञान कैसे हो? हम सभी कर रहे हैं, सबकी करने की कुछ योजनाएँ भी हैं। अपनी और दूसरों की बुद्धि का भरपूर दुरुपयोग हम करते हैं। हमारे करने की विधाएँ हैं, लेकिन जो पाना या खोना है, वह उनके कारण नहीं है और होना तो उससे बिल्कुल पृथक् है। नित्य ही हम किसी न किसी असन्तुष्टि को लेकर सोते हैं और अन्ततः आसक्त ही मर जाते हैं। मैंने गिलास, लोटा, बाल्टी, ड्रम, कुआँ और नदिया का उदाहरण बहुत बार दिया है। नदिया भी भागती है और अन्ततः अपना नाम-रूप खोकर सागर में मिलने पर ही शान्त होती है। जैसे-जैसे हम भौतिक जगत में और-और पाते रहते हैं, हमारी असन्तुष्टि भी बढ़ती जाती है। यदि हम ऐसा सोचते हैं और मानते हैं, कि हमारे करने के कारण हमें प्राप्तियाँ हुई हैं, तो हमें सन्तुष्टि मिल ही नहीं सकती, यह दैवीय

अधिनियम है। क्योंकि वास्तविक प्रक्रिया अदृश्य रहती है जिसके कारण कुछ भी प्रकाट्य होता है।

जहाँ मानवीय बुद्धि स्वयं में अशक्त, असमर्थ होकर समर्पित हो जाए, वहाँ से दैवीय बुद्धियों की जागृति हो जाती है। जहाँ तक हममें, स्वयं में समर्थ एवं शक्ति होगी, वह भौतिक शक्ति एवं भौतिक लक्ष्य तक ही सीमित होगी। जब शक्तियाँ अपनी शक्ति द्वारा समर्पित हो जाएँगी, उस समर्पण की अभिव्यक्ति **विरक्ति** बन जाएगी, वहीं से दिव्य बुद्धियाँ– विवेक, प्रज्ञा, मेधा एवं ऋतम्भरा प्रकट हो जाएँगी।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 24, 25 एवं 29 मई, 2007)

योग-भ्रष्ट

जीवात्मा (**मैं**) देह नहीं है और देह, जीवात्मा (**मैं**) नहीं है। कोई रोग हो तो उसका दूर होना सरल है, लेकिन यदि किसी को रोगी होने का वहम हो जाए और रोग की मान्यता परिपक्व हो जाए; तो निरोगी शरीर में भी कभी-कभी रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। डॉक्टर के लिए ऐसे तथाकथित रोगी को यह विश्वास दिलाना अति दुष्कर कार्य होता है कि तुम्हें बीमारी नहीं है, बीमारी का वहम है। यही जीवात्मा के साथ भी हुआ। 'मैं अमुक-अमुक (देह का नाम-रूप) हूँ' का भाव शनैः-शनैः जन्मों-जन्मान्तरों में देह धारणा बन गया। **सद्‌गुरु, सद्‌शिष्य की वह धारणा हटा देता है, जिससे उसने स्वयं को देह समझा हुआ है।** भ्रम में देह से लिप्तता हुई और देह से ही भ्रम दूर होगा।

देह पर आधारित सम्बन्धों का मकड़ जाल हमें स्वतन्त्र जीवन नहीं जीने देता। इन समस्त सम्बन्धों की नींव देह है। मैं यह सोचूँ कि देह से मेरा क्या सम्बन्ध है? यह मुझे क्यों मिली है, जो कभी भी छीन ली जाएगी। जब तक मेरे साथ है मैं इससे क्या करूँ? एक समय देह मेरे पास थी नहीं और किसी भी एक दिन रहेगी नहीं तथा अब, जब है तब भी हर क्षण अपना रूप बदल रही है। मेरी देह की हर अवस्था के साथ कभी कोई न कोई सम्बन्ध जुड़ता है और कभी कोई सम्बन्ध टूटता है। इस परम सद् पर हम विचार क्यों नहीं करना चाहते कि मैं यदि देह हूँ तो कौन सी देह हूँ? देह सतत् बदल रही है लेकिन हर अवस्था के साथ मैंने अपनी **'मैं'** लगा दी।

आजीवन हम देह से, उस देह के लिए कुछ न कुछ पाना चाहते हैं जो खो जाएगी। उनके लिए पाना चाहते हैं जो नहीं रहेंगे और वह सब पाना चाहते हैं जो स्वयं में नश्वर एवं क्षण भंगुर है। अतृप्ति, असंतुष्टि एवं आसक्ति बनी रहती है। मैं यह जान ही नहीं पाता, कि मेरी देह से मेरा क्या सम्बन्ध है? यह किसलिए है मेरे पास? देह धारणा की गफलत में मैं काल्पनिक मृत्यु से भयभीत होता हुआ सोचता हूँ कि "हे प्रभु! मेरे मरने के बाद मेरे बच्चों, धन, सम्पदा, दुकान, मकान का क्या होगा? इसी भ्रम में जीवन-बीमा तथा वसीयत आदि भी करवाता हूँ। मैं यह नहीं सोचता कि जब मैं ही नहीं रहूँगा, तो मेरा कुछ भी कहाँ रहेगा। मैं यह तो सोचूँ, कि मरने के बाद मेरा क्या होगा?" अध्यात्म में इसी सद् विचार के बाद प्रविष्टि होती है। जब यह चिन्ता होगी तो इसे **चिन्ता-ए-मुराद** कहा है। काश! यह चिन्ता सबको लग जाए कि मरने के बाद मेरा क्या होगा? अपनी देह को मिस करना शुरू कर दो, फिर संसार में किसी की याद नहीं तड़पाएगी। इससे आपकी **मैं** और **देह** में दरार पड़ जाएगी। यह **दरार-ए-मुराद** है। जिस देह से अपनी नाम-रूप की देह को याद करोगे वह जन्म-मृत्यु रहित दिव्य देह होगी। वह अलंकृत, सुरभित, सुशोभित, सौम्य एवं पूज्य होगी।

हम संसार में विचरें तो संसार का आनन्द लेंगे और यदि संसार हममें बस गया, तो वह अवश्य ही हमारे तनाव का हेतु बना रहेगा। संसार मुझमें रहने के लिए नहीं है, मैं संसार में रहने के लिए हूँ। अपनी देह सहित संसार से इतना सम्बन्ध रखना है जो हमारे दिल-दिमाग के लिए तनाव का हेतु न बने; नहीं तो देह व दैहिक सम्बन्ध दुर्गन्ध बन जाएँगे। दैहिक सम्बन्धों के रूप में हमने रोग पाले हुए हैं, उनसे दुःखी हैं, लेकिन उन्हें हटाना नहीं चाहते। जन्मों-जन्मान्तरों में नाम-रूप बदल-बदल कर देह **मेरी** बनके नहीं **'मैं'** बनकर मेरे साथ रही है। उस देह का आभास ही मुझे जन्मों-जन्मान्तरों में ले जाता है। जिससे कुछ पाया था वह खोई और फिर जब मिली तो उसके लिए फिर पाना चाहता हूँ। यह भूल जाता हूँ कि यह फिर एक न एक दिन खो जाएगी।

देह के भोगों में **भोग-भ्रष्ट** होकर मैं पुनः पुनः देह चाहता हूँ। जिस देह से पिछले जन्म में बहुत कुछ किया व पाया था अथवा खोया था और जो-जो हुआ था; उस **सब कुछ** के साथ, वह देह नहीं रही। अब जो मिली है उससे, उसी के लिए फिर बहुत कुछ पाने की आसक्ति है। उस तुच्छ आसक्ति के लिए फिर अगला जन्म होता है। ऐसे व्यक्ति **'भोग-भ्रष्ट'** होकर जन्मों-जमान्तरों के काल्पनिक काल-चक्र में भटकते रहते हैं। **'अन्त मति सो गति'** किसी जन्म में किसी **'महापुरुष'** की कृपा से ईश्वर की आसक्ति हो जाए और देह, ईश्वर-चिन्तन में अथवा **'सद्'** को पाने की चाह में छूट जाए, तो उस जीव को **योग-भ्रष्ट** कहा जाता है। योग-भ्रष्ट भी देह पाना चाहता है। योग-भ्रष्ट देह इसलिए पाना चाहता है, कि इस बार मुझे मोक्ष मिल जाए और मेरा काम हो जाए।

भोगों से अतृप्त एवं असंतुष्ट भोगी भी देह चाहता है। भोग-भ्रष्ट देह इसलिए चाहता है कि मैं और भोगूँ। भोग-भ्रष्ट से ईश्वर भोग-पदार्थ छीन कर तड़पाता है, ताकि उसे सुमति आ जाए, कि जो भोग-पदार्थ वह एकत्र कर रहा है; उन्हें इन्द्रियों की भोग क्षमता समाप्त होने पर छोड़ना पड़ेगा। भोग-भ्रष्ट जिन सुखों के लिए साधन जुटाते-जुटाते देह छोड़ता है अगले जन्म में उन्हीं को पुनः प्राप्त करके भोगना चाहता है। देह से ही योग होगा और देह से ही भोग होगा। **योगी ही भोगों को भोगता है भोगी को तो भोग ही भोग जाते हैं।** अन्ततः देह, भोगी से घृणा करने लगती है और विरोधी हो जाती है। नींद नहीं आती, भूख नहीं लगती, परिवार वाले मिलना नहीं चाहते, पैसे का कोई सुख नहीं, वकील और डॉक्टर हर समय नोचते रहते हैं। हम तनावित रहते हैं और कारण नहीं जान पाते।

योग-भ्रष्ट को कई तरह की रियायतें मिलती हैं। वह किसी श्रीमान के घर जन्म लेता है जहाँ जप-तप, ध्यान, दान-पुण्य आदि का वातावरण बना-बनाया मिलता है। पूर्व जन्म में हुआ आत्मोत्थान और आगे चलता है। समस्त दैवीय शक्तियाँ उसकी सहायक होती हैं। होश सम्भालते ही वह योगी की तरह सोचता है, कि मैं कुल जीवन से क्या चाहता हूँ ? इस

जिज्ञासा के पनपते ही उसे जीवन का लक्ष्य मिल जाता है। वह हर दिन यह सोचता है, कि हो सकता है आज का दिन मेरे जीवन-काल का अन्तिम दिन हो। देह और उस पर आधारित सब प्राप्तियाँ तो यहीं रह जाएँगी, तो मुझे जीवन से क्या मिला? मेरी चाहत अवचेतना में पूरी हो नहीं सकती।

अवचेतना नहीं जानती कि मेरी चाहत क्या है? वास्तव में मेरी चाहत मुझे चाहती है। मैं खुद को चाहता हूँ। मेरी **'मैं'** खो गई है, मैं उसे चाहता हूँ। मेरी **'मैं'** मुझे मिले या न मिले लेकिन यह जिज्ञासा अवश्य होनी चाहिए। जिज्ञासा की शान्ति तो कृपा-साध्य है। **'परम सद्'** को अपने कृत्यों से नहीं पा सकते। यह जिज्ञासा उठना ही स्वयं में महत्त्वपूर्ण है। वह उद्वेग, वह ज्वाला मुझे बेचैन कर देगी, कि अगर आज मेरी देह छूट जाती है तो मेरा क्या होगा? मैं जीवन से क्या लेकर जा रहा हूँ। अगर मैं 100 वर्ष और भी जी लूँ, तो जीवन से मुझे क्या मिलेगा? हम सब जानते हैं कि देह का निश्चित, परिलक्षित एवं दर्शित भविष्य भस्मी है। वह कभी भी बन सकती है और तब देह रूप में **'मैं'** नहीं रहूँगा और सब कुछ समाप्त हो जाएगा। देह धारणा में देह के रहते, जीते जी मैं देह की भस्मी का चिन्तन करूँ। सद्गुरु-कृपा से नित्य कुछ क्षण अवधारणा करूँ, कि मानों मैं भस्मी बन गया हूँ तो देह के नाम-रूप की अवचेतना शनैः शनैः चेतनता में रूपान्तरित होने लगेगी। भस्मी बनने के लिए देह चाहिए और भस्मी बनने के बाद देह रहती ही नहीं। बिना देह के भस्मी की अवधारणा कैसे करेंगे इसलिए जीते जी सद्गुरु-कृपा से देह के रहते यह कार्य करना होगा। भस्मी की अवधारणा परिपक्व होने पर देहातीत दिव्य देह में प्रविष्टि हो जाती हैं। महापुरुषों को मिली देह भी अलग होती है। देह सहित जगत की अवचेतना, चेतना में Land करने के लिए है। यहाँ कुछ भी निरर्थक नहीं है।

एक ही सूत्र है, हर वक्त ह्रदय से हर विधा की वाह-वाह करिए। उत्थान हो पतन हो, हानि हो लाभ हो, सुख हो दुःख हो स्वाहा-स्वाहा में जीवन बीत जाए। वहाँ नाम-रूप की अवचेतना ही आपको चेतनता में ले जाकर स्वयं विलीन हो जाएगी। संसार में हर क्रिया आनन्द में, आनन्द की

ओर है। पर्वतों पर बर्फ पड़ती है, पिघलती है और नदी आनन्द में बहती है और आनन्द में सागर में मिलती है। सागर से पुनः वाष्प आनन्द में बनती है। उसके बादल आनन्द में बन कर आनन्द में बरसते हैं और आनन्द में बर्फ बनती है। फिर हिम शिलाएँ पिघलती हैं और नदी बनकर बहती हैं। सृजन, पालन और विलय सारा आनन्द में है। सब द्वैत आनन्द में है, अद्वैत आनन्द में है, अद्वैत से द्वैत और द्वैत से अद्वैत आनन्द में है। क्रीड़ा में द्वैत सा होता है। यही आनन्द की स्थिति है।

परम तत्त्व बोलने, सुनने, सोचने, लिखने का विषय नहीं है। यह अनिवर्चनीय है। फिर भी युगों-युगान्तरों से ऋषियों, मनीषियों ने इस विषय में बोला है, सुना है, क्यों ? नमक का पुतला, सागर की गहराई जानने के लिए उसमें उतरता गया, तो पहले उसकी टाँगे घुलनी शुरू हुईं, फिर बाजू, फिर छाती, गरदन और अन्ततः दिमाग भी खुर गया। वह तली तक पहुँचा, लेकिन तब तक इस योग्य नहीं रहा, कि सागर की गहराई नाप सके। वह कुछ बताने योग्य नहीं रहा। उसी प्रकार महापुरुषों के प्रवचन एवं श्रवण से हमारा अहं गलित हो जाता है। हम गहराई जान जाते हैं, लेकिन वर्णन नहीं कर सकते। कहने-सुनने का तात्पर्य मात्र इतना होता है, कि युगों-युगान्तरों से जो हमारा अहं है वह घुल जाए। एक बार संत की अनुभूति आपकी अनुभूति बन गई, तो वह आनन्दमयी मानसिक स्थिति कभी बदलेगी नहीं। शास्त्र ने कहा है, कि एक बार आवरण हटने पर दुबारा नहीं पड़ता।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(उत्तरकाशी, शिव – शक्ति महायज्ञ 21 जून से 26 जून, 2006)

शैशव

'**आ**ज का विषय अत्यन्त अद्‌भुत, अविस्मरणीय और अति सारगर्भित है। विषय का शीर्षक है–**'शैशव'। 'देहानुभूति'** के प्रवचनों द्वारा हम सब आश्वस्त हो चुके हैं कि संसार की किसी भी वस्तु, प्राणी, स्थिति, परिस्थिति, अवस्था और चर-अचर जगत की किसी भी विधा का सदुपयोग करने के लिए उसके सद् अथवा उसकी वास्तविकता को जानकर, मानकर अनुभूतिगम्य करना परमावश्यक है। इस साकार मायिक जगत का ईश्वर द्वारा प्रतिपादित, स्वीकृत, प्रेरित और निर्देशित प्रयोग ही सदुपयोग है। अन्यथा जो उपयोग है, वह मात्र दुरुपयोग ही है। हम मानव, जगत में हर विधा के प्रयोग के समय मात्र अपना लाभ, दूसरों की हानि या लाभ, सफलता या असफलता ही देखते हैं। सदुपयोग का हम, मानव-बुद्धि से अनुमान भी नहीं लगा सकते। सद् (ईश्वर) द्वारा, सद् से, सद् के लिए प्रकट उपयोग ही सदुपयोग है। उपयोग व सदुपयोग में परस्पर कोई तुलना नहीं की जा सकती।

जितना दृश्यमान व साकार मायिक जगत है उसके सदुपयोग के लिए अथवा सदुपयोग के निर्देशन के लिए सद्‌गुरु की आवश्यकता होती है। कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की सम्पूर्ण प्रकृति (माया) का एक मानव-देह पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। प्रभु की अकारण कृपावश हमें ऐसी मानव-देह से नवाज़ा गया है। **संसार में तीन वस्तुएँ बहुत दुर्लभ मानी गईं हैं। मानव-देह का मिलना, मानव-देह में मानव-जीवन जीते हुए मोक्ष की**

जिज्ञासा उत्पन्न होना और जीवन में किसी सद्पुरुष का पदार्पण। मानव-देह का मिलना ही मानव-जीवन नहीं है। मानव-देह एक गाड़ी के समान है। गाड़ी स्वयं में Drive नहीं है। गाड़ी को Drive करके कौन, कहाँ, कैसे और क्यों ले जा रहा है, कब तक ले जाएगा और जहाँ, जिसके लिए ले जा रहा है, वह लक्ष्य प्राप्त कर भी ले तो क्या हो जाएगा? यह चिन्तन ही मानव-देहधारी के मानव-जीवन में प्रविष्टि का लक्षण है। अतः देह, पृथक् है और जीवन, पृथक् है।

जितना भी साकार दृश्यमान जगत है वह निराकार का **'फोक'** या छिलका है। इस साकार फोक की गिरी निराकार है। फोक का अर्थ है जो फूँक मारने से उड़ जाए। अंग्रेज़ी में इसे Fake (जाली या नकली) कहते हैं। यह Fake (मायिक) साकार जगत Joke (मज़ाक) है जो **जोंक'** बनकर आजीवन हमारा शोषण करता रहता है। अदृश्य एवं निराकार के बिना समस्त साकार जगत निस्सार है। इस साकार में हमारी मानव-देह भी आती है। मानव-देह की पंच-पाद वास्तविकताओं (सद्) का मैं अपने **'देहानुभूति'** के प्रवचनों में सविस्तार वर्णन कर चुका हूँ। मानव-देह की वास्तविकता इसकी नींव है, जो अदृश्य रहती है।

मानव-देह का बहुत महत्त्वपूर्ण **'सद्'** है, कि यह परिवर्तनीय एवं परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील इसलिए है, कि यह शनैः शनैः, चुपचाप, बहुत ही शालीनता, आनन्द, सौहार्द एवं सौम्यता से परिवर्तित होती है। इसमें होते परिवर्तनों में विशिष्ट सौन्दर्य एवं आनन्द है और अन्ततः यह सर्वोत्कृष्ट, जन्म और मृत्यु की अवधि से बँधी नश्वर देह, मुट्ठी भर राख की ढेरी बन जाती है। यह दैवीय कानून है कि मानव-देह के इन सदों को सिद्ध किए बिना हम इसका सदुपयोग कर ही नहीं सकते। **देह के किसी एक सद् को किसी भी प्रकार से सिद्ध करने की प्रक्रिया ही मेरी दृष्टि में 'साधना' है।** यही मानव-देह में मानव-जीवन है। जिस दिन देह सिद्ध हो जाएगी अथवा सद् को जानने की प्रक्रिया में रत होगी, वह देह स्वतः ही ईश्वर की ओर ले जाएगी। क्योंकि सच्चिदानंद ईश्वर को जनवाने में उसके द्वारा

रचित यह देह ही सक्षम है। मानव-देह के सिद्ध होने पर ही इसकी सक्षमता का प्रकाट्य होता है।

मानव-देह के दो मोड या रूप हैं—दृश्यमान प्रकट (Visible) देह और अदृश्यमान अप्रकट (Non visible) देह। दृश्यमान देह साकार है और अप्रकट देह निराकार है। जब हम जीवन में व्यवहार करते हैं, तो देह सहित जगत में होते हुए अनेक प्रकार के परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं। यह सब दृश्यमान साकार देह में होता है। हम इस साकार देह सहित जगत को देख कर प्रशंसा, आलोचना आदि करते हैं। जीवन में हमने अपनी सुविधा के लिए इस दृश्यमान देह को ही लिया है। जबकि पाँचों इन्द्रियों द्वारा अधिगृहीत यह दृश्यमान देह हमारी मानव-देह का **'मध्य'** है। यह मध्य की देह जन्म और मृत्यु के दो छोरों से बँधी है। जन्म से पहले प्रारम्भारम्भ और मृत्यु के बाद अन्तान्त के दो छोर निराकार एवं अदृश्य हैं, लेकिन दोनों देह के ही हैं। जन्म (आरम्भ) से पहले **प्रारम्भारम्भ** का छोर, जब किसी माँ के गर्भ में देह के लिए एक बिन्दु, भ्रूण या Zygote रूप में गर्भाधान हुआ और अन्त (मृत्यु) के बाद **अन्तान्त** जब यह मध्य की देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है, तो भस्मी का प्रकाट्य होता है। प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त इन दोनों छोरों से यह मध्य की देह बँधी नहीं है। यदि हमें देह के बन्धन से छूटना है, तो हमें मध्य की देह के इन दोनों छोरों का आश्रय लेना होगा। ये दोनों छोर देह के हैं, लेकिन देह से बँधे हुए नहीं हैं। इसलिए देह-बन्धन से मुक्ति के लिए ये दोनों छोर ही **'द्वार'** हैं। महादुर्भाग्यवश हम बुद्धिजीवी मानव इनको Ignorantly, Deliberately and Foolishly उपेक्षित किए रहते हैं।

प्रभु ने मध्य की देह को काल से बाँधा है। काल से तात्पर्य मात्र समय नहीं है। समय तो काल की तीनों विधाओं (समय, स्थान, स्थिति) का एक अंग है। समय और स्थान पर हम अधिपत्य कर लेते हैं, लेकिन देह की हर **'स्थिति'** मात्र कालेश्वर के हाथ में है। स्थान और समय भी स्थिति से बँधे हैं। इसलिए वास्तव में हमारे समय और स्थान की योजनाएँऽभी कालेश्वर के हाथ में हैं। हमारी देह का एक-एक पल, एक-एक क्षण, एक-एक विधा

उसी के हाथ में हैं। हम सबने घड़ियाँ बाँधी हैं पर क्या कोई घड़ी समय को बाँध सकती है? जिस समय जो कुछ होना है, उसी के अनुसार हमें वहाँ (स्थान) पहुँचा दिया जाता है। हमारी स्थिति ऐसी बन जाती है, कोई ऐसी सोच या ख्याल आता है, कि हम देखते रह जाते हैं कि यह कैसे हो गया। इसलिए हमारी स्थिति के अनुसार ही हमारी देह का स्थान और समय निर्धारित होता है। चार-छः डिग्रियाँ लेकर और भौतिक धन-सम्पदा, नाम-यश पाकर स्वयं को कुछ समझने की भूल हम न करें; यह जान लें और मान लें, कि हमारे हाथ में कुछ नहीं है। यही मानव-बुद्धि की एकमात्र सार्थकता है। वह सृष्टिकर्ता बहुत बड़ा प्रबन्धक है उसने हर स्थिति पूर्णतः अपने हाथ में रखी है, किस समय क्या होगा यह मात्र वही जानता है।

काल से बँधी इस दृश्यमान मध्य की साकार देह का प्रारम्भारम्भ अकाल, निराकार एवं अदृश्य है, क्योंकि वह अदृश्य प्रायः बिन्दु या भ्रूण कब माँ के गर्भ में प्रत्यारोपित हुआ, इस समय की गणना किसी भी उत्कृष्टतम वैज्ञानिक बुद्धि की पहुँच से परे है। साथ ही माँ के गर्भ में आने के बाद जन्म की कोई सुनिश्चितता नहीं है, अर्थात् वह साकार देह से बँधा हुआ नहीं है। यदि जन्म हो गया, तो वह साकार देह उससे अवश्य बँधी हुई है। हम सब इसलिए पैदा हुए क्योंकि पहले लगभग नौ महीने माँ के गर्भ में रहे। साकार देह का आरम्भ (जन्म) उससे बँधा है, लेकिन वह प्रारम्भारम्भ साकार देह के बन्धन से मुक्त है। इसी प्रकार जब मेरी देह की भस्मी बनेगी, तो वह भस्मी भी अकाल, निराकार लेकिन दृश्यमान होगी। मैंने अपनी भस्मी नहीं देखी, लेकिन लोगों की तो देखी है, ऐसी ही मेरी भी भस्मी बनेगी। जब मेरा प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त दोनों अकाल एवं निराकार हैं, तो मध्य में **'मैं'** काल से क्यों बँध गया?

मध्य की देह में जब प्राण या श्वास आ जाते हैं तो देह सक्रिय हो जाती है, लेकिन जब तक उसके साथ **'मैं'** न लगे तो उस सक्रियता की मेरे लिए कोई उपयोगिता नहीं होती। **'मैं'** जीवात्मा है। **'मैं'** परमात्मा का इकलौता मानस-पुत्र है। सबकी **'मैं'** एक है क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही

है। जब तक कोई **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होता, तो जीवन के लिए निष्क्रिय होता है। सुषुप्तावस्था से उठने का लक्षण यह होता है, कि **'मैं'** (जीवात्मा) ने देह के साथ **'मैं'** लगा दी। दृश्यमान, कालबद्ध एवं साकार देह को क्रियान्वित करने वाली **'मैं'** स्वयं निराकार, अदृश्य एवं अकाल है।

'मैं' एक ही है और उसे लगाने वाले अनेक हैं। जब कोई काल से बँधी एक साकार देह **'मैं'** लगाने की स्थिति में हुई, तो वह नाम-रूप में आ गई। वह देह जो सुषुप्तावस्था में अनाम एवं अरूप थी, वह **'मैं'** को साथ लगाने की स्थिति में आते ही उस नाम-रूप में बँध गई और उस देह के साथ जो अनेक नाम-रूप थे, उन्हें अपने से पृथक् मान लिया। इस प्रकार जीवात्मा (**'मैं'**) भी नाम-रूप में आ गया और उस स्थिति में चौरासी लाख मायिक स्थितियाँ इसके गले पड़ गईं। जब **'मैं'** साथ नहीं लगी थी, तो देह निष्क्रिय एवं अनुपयोगी तो थी, लेकिन सभी स्थितियों से परे थी। **'मैं'** लगाने पर सक्रिय एवं उपयोगी तो हो गई, लेकिन चौरासी लाख योनियों में फँस कर आधि-व्याधि-उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण, रोग, दोष, ईर्ष्या, वैर, वैमनस्य, राग-द्वेष और अनेकानेक विकारों से घिर गई।

देह के साथ **'मैं'** लगाने की एक स्थिति मुझे (जीवात्मा को) चौरासी लाख स्थितियों से तद्‌रूप करके **'जीव'** बना देती है और सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु, भस्मी अवस्थाओं में मेरे लिए न देह रहती है न जगत रहता है और न **'मैं'** रहता हूँ। क्योंकि मैं नहीं कह सकता कि मैं सो रहा हूँ, मैं मूर्च्छित हूँ, मैं मरा हुआ हूँ और मैं भस्मी बन गया हूँ। तो मैं क्या करूँ? मानव-देह की समस्त आन्तरिक क्रियाएँ सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति की स्थितियों में चलती रहती हैं। लेकिन जब तक देह "**मैं**" लगाने की स्थिति में नहीं होती, तब तक किसी बाहरी क्रिया के योग्य नहीं होती। बोधता में एक देह सक्रिय हुई, तो उसने **'मैं'** को लगाया। वह **'मैं'** जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एक ही है। देह रूप में जो **'मैं'** असंख्य और गणनातीत देहों की एक ही है, उसको **'मैं'** अपनी एक देह के साथ लगाता हूँ। इस प्रकार **'मैं'** (जीवात्मा) ने अपनी **'मैं'** को नगण्य, तुच्छ और कितना छोटा कर दिया।

इस प्रक्रिया में देह रूप में **'मैं'** संकीर्ण होकर अपनी समस्त समष्टि से हट कर अकेला पड़ गया। अपनी अति विस्तृत, विशाल और समष्टिगत **'मैं'** को अपनी एक देह के स्तर पर ले आया, जबकि **'मैं'** उस स्तर पर आ ही नहीं सकती।

सबकी **'मैं'** (जीवात्मा) एक और मैं (देह) सबमें से एक; दोनों में तालमेल हो नहीं सकता; तो दोनों का साथ कब तक चलेगा? वास्तव में तो **'मैं'** जीवात्मा है जो न एक है न अनेक (I am **none** in all) है। केवल अपनी देह की बाह्य क्रियाओं के दिखावे के लिए **'मैं'** (जीवात्मा) को **'मैं'** (देह) ने अपने साथ लगाया। साकार मानव-देह की **'मैं'** लगा पाने की एक स्थिति चौरासी लाख मायिक योनियों या स्थितियों में बँधने का कारण बनी। जब साकार मानव-देह **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होती, तो सक्रिय नहीं होती और जब **'मैं'** लगाने की स्थिति में होती है तो भौतिक रूप से सक्रिय और उपयोगी तो हुई, लेकिन मेरे (जीवात्मा के) लिए बहुत ही अनुपयोगी ही नहीं दुरुपयोगी हो गई।

सद्‌गुरु, जीव बने जीवात्मा को उसकी नाम-रूप की देह की अवचेतना के प्रति जाग्रत करते हुए कहता है, कि ''तेरी एक साकार देह की अवचेतना में उस काल (समय, स्थान एवं स्थिति) में उस देह सहित जो समस्त जगत प्रकट होता है, वह तुझसे भिन्न नहीं है। एक साथ अनेक नाम-रूपों की सक्रियता तेरे अपनी देह के साथ **'मैं'** लगाने से हुई। सबकी **'मैं'** एक है, क्योंकि **'मैं'** (जीवात्मा) एक ही है और देहें अनेक हैं, क्योंकि तेरी साकार देह **'एक'** है। वह एक देह स्वयं में उस काल में दृश्यमान समस्त साकार ब्रह्माण्ड का आधार है और इस सबका अस्तित्व **'मैं'** है, जो स्वयं में अकाल, निराकार और अदृश्य है।''

सद्‌गुरु कहता है, कि ''तूने **'मैं'** (जीवात्मा) को अपनी एक देह के साथ लगाया और demote सा हो गया। जबकि **'मैं'** कभी भी demote नहीं हो सकता।'' जब एक देह के साथ **'मैं'** लगा दी, तो **अभावमय** आनन्दस्वरूप जीवात्मा **अभाव में** हो गया। इस स्थिति में वह एक से अनेक

और अनेकानेक होकर भी **'मैं'** के स्तर तक नहीं आ सकता। एक देह रूप में **'मैं'** सारा ब्रह्माण्ड भी अधिकृत कर ले तो भी **अभाव में** ही रहेगा। मुझे किसी भी तरह से अपनी **अभावमय** स्थिति को Regain, Resume और Reinstitute करना है।"

जब **'मैं'** (जीवात्मा) सुषुप्ति से उठकर अपनी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में आता हूँ, तो मेरे साथ मेरा उस समय का जगत भी होता है। रोज़ नई देह व नया जगत होता है। नित्य नूतन देह सहित वह नवीन जगत मेरे लिए होता है। कोई भी दिन मध्य रात्रि 12 बजे से प्रारम्भ होता है और मध्य रात्रि 12 बजे समाप्त होता है। इसका अर्थ है कि 12 बजे दो मध्य रात्रियाँ हैं। मध्य रात्रि 12 बजे पुराना दिन समाप्त होने और तुरन्त 12 बजे नया दिन प्रारम्भ होने के मध्य अकाल काल (Silent Gap) होता है, जिसमें माँ जगदम्बा अगले दिन की चैनल अथवा मायिक विधा का Software लगा देती है, जिसके अनुसार मुझे (जीवात्मा को) नवीन देह सहित जगत में उठाया जाता है।

प्रत्येक दिन मेरे जीवन काल में अन्तिम दिन होता है। इनमें से कोई भी दिन मेरे जीवन काल **का** अन्तिम दिन भी होगा। जीवन-काल का वह अन्तिम दिन कौन सा होगा, यह मैं न जानता हूँ न जान सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक दिन मेरे जीवन-काल का अन्तिम दिन भी हो सकता है। जीवन-काल के कभी भी और कोई भी दो दिन एक जैसे नहीं होते। जैसे ही मैं रात्रि में सुषुप्ति में जाता हूँ, तो मेरी साकार देह सहित जगत का लय हो जाता है, मैं निराकार हो जाता हूँ। इसलिए रात्रि सोते समय मैं यदि साकारों का बोझा पूर्णतः निर्मूल करके **'शिवरात्रि'** में सोऊँ कि अगले दिन का मेरा अपना कोई कार्यक्रम न हो, तो अगले दिन मुझे यदि उठाया जाएगा तो **'नवरात्रि'** में उठाया जाएगा (विस्तार के लिए देखें **'शिवरात्रि-नवरात्रि'** शीर्षक प्रवचन)।

'स्थिति' वह मायिक चैनल है, जिसमें मेरे लिए मेरी एक देह सहित जगत स्वतः, साथ-साथ एवं तदनुसार प्रकट होता है। इस प्रकार की चौरासी

लाख मायिक स्थितियाँ हैं, जिन्हें हम सब भुगत रहे हैं। रात्रि में यदि शराब पीकर अथवा ऊत पटांग स्थितियों में सोएँगे, तो सो तो जाएँगे लेकिन मध्य रात्रि 12 बजे अकाल-काल में वही चैनल या स्थिति carry forward होगी। एक ही प्रतीत होती दो मध्य रात्रियों में अगले दिन का Software उसी प्रकार की स्थिति में लगेगा। हम आकारों में भटक गए हैं, क्योंकि एक नाम-रूप देह की अवचेतना में आते ही अनेक नाम-रूप साथ होते ही हैं। हम अनेकों में और-और विस्तार करना चाहते हैं और अपने से दूर होते चले जाते हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) एक से अनेक की भटकन में स्वयं में अनेक (नेकी रहित) हो जाता हूँ। इसी प्रकार विस्तृत, अति विस्तृत होते-होते एक दिन वह दिन आ जाता है जो जीवन-काल का अन्तिम दिन होता है। आजीवन मुझसे मेरा परिचय नहीं हो पाता, इसलिए **'मैं'** (जीवात्मा) देह पर देह लेता हुआ आच्छादित ही रहता हूँ।

सद्‌गुरु कहता है, कि ''तू एक से अनेक हुआ। अनेकों का आधार भी तू ही देह रूप में **'एक'** था। तू देह के रूप में एक नहीं होता, तो अनेक भी नहीं होते और यदि अनेकों में से कोई भी होता, तो तेरा एक (देह रूप में) होना आवश्यक था। जिस प्रकार अनेकों के लिए **'एक'** चाहिए उसी प्रकार एकान्त के लिए भी **'एक'** ही चाहिए। अब तू एकान्त में जा।'' एकान्त स्वयं में अनेकान्त भी है क्योंकि **'मैं'** एक से ही अनेक हुआ। इसलिए एकान्त की मानसिक स्थिति में **'मैं'** (जीवात्मा) होता हूँ, लेकिन देह रूप में मैं न एक होता हूँ न अनेक होते हैं। एकान्त में मात्र सद्‌गुरु-कृपा ही ले जा सकती है।

एकान्त की स्थिति में जीवात्मा स्वयं में आश्वस्त हो जाता है, कि वह **'देह'** नहीं है। यदि वह एक देह है तो उस देह के साथ उस समय प्रकट अथवा अप्रकट रूप से प्रकट जगत भी है। वास्तव में वह न एक है न अनेक है। सुषुप्ति में भी **'मैं'** एक और अनेक नहीं होता, लेकिन **'मैं'** स्वयं भी नहीं होता; इसलिए मुझे ज्ञान नहीं होता कि **मैं** एक और अनेक नहीं हूँ। सषुप्ति, एकान्त न होकर जड़ एवं आनन्द रहित स्थिति है। एकान्त अथवा समाधि की अवस्था में मुझे ज्ञान हो जाता है, कि **'मैं'** हूँ लेकिन एक (देह) और अनेक

(जगत) नहीं हूँ। यह मेरी आनन्दमय स्थिति है, क्योंकि इस स्थिति में जीवात्मा, परमात्मा के सम्मुख होता है। एकान्त में जाने के लिए औपचारिकता नहीं, आवश्यकता है कि हमारी मानसिक अवस्था **'शैशव'** (सह+शव) की होनी चाहिए। यदि शवत्व का भाव नहीं होगा, तो कभी एकान्त की स्थिति में नहीं जा सकते। आज मैं अध्यात्म के गहनतम रहस्य को इष्ट-कृपा एवं आप समस्त जिज्ञासुओं की प्रेरणा से सरलतम करके अनावृत कर रहा हूँ।

हमने मानव-देह के दो पहलू बताए हैं—कालबद्ध, साकार एवं दृश्यमान और अकाल, निराकर एवं अदृश्य। दृश्यमान साकार देह मध्य में है और यह जन्म और मृत्यु के दोनों छोरों में कालबद्ध है। मध्य की दृश्यमान साकार देह का आरम्भ जन्म से होता है। जन्म की घोषणा प्रथम श्वास से होती है। श्वास का सन्धि विच्छेद करें शव+आस = श्वास। श्वास का अर्थ Breath या साँस नहीं है। समस्त प्राणियों में जलचर, नभचर, थलचर सभी साँस लेते हैं, लेकिन मानवों को यह जानना आवश्यक है, कि जन्म श्वास (शव की आस) से होता है और अन्ततः शव बन जाता है। इस मध्य की देह का श्वास से आरम्भ ही जन्म है जो शैशव अर्थात् सह शव (शव के साथ) है। इस देह का अन्त (देहान्त) अन्तिम श्वास के साथ होता है और यह देह **'सह शव'** न रहकर शव बन जाती है।

प्रथम श्वास के साथ जन्म होता है और शैशव (सह शव) के बाद लड़कपन, वयस्कावस्था, युवावस्था, अति युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, अतिवृद्धावस्था और शव बनने से पहले जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब शैशव के ही रूपान्तरण हैं। शैशवावस्था अबोधता में है। शव बनने से पहले धीरे-धीरे बोधता में **'सह शव'** अर्थात् **'शैशव'** की मानसिकता की परिपक्वता ही मानव-जीवन है। अन्यथा हमारे और पशुओं के जीवन में कोई अन्तर नहीं है। दृश्यमान मानव-देह की सुनिश्चित अवस्था शैशवावस्था ही है। शैशवावस्था के बाद कोई युवा हो न हो, प्रौढ़ व वृद्ध हो न हो। प्रथम श्वास के बाद यदि कोई कुछ देर भी जीवित रहा है, तो उसने शैशव का

कुछ समय अवश्य बिताया होगा। आगे आने वाली अवस्थाओं की कोई गारण्टी नहीं है। क्योंकि कोई भी श्वास अन्तिम होकर शव आस को **'शव'** में रूपान्तरित कर देती है।

शैशव और शव में बहुत समानाताएँ हैं। शिशु की भाँति शव को भी कन्धे पर उठाया जाता है। शिशु स्वयं में धर्म-कर्म, कर्तव्य, देशकाल, सम्बन्ध एवं लिंग से परे होता है। उसे मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा कहीं भी ले जाएँ, कोई अन्तर नहीं पड़ता। शिशु पर हम धर्म थोपते हैं। शिशु का किसी के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता, उसी प्रकार कि जैसे बहुत कर्तव्यपरायण और कर्मठ व्यक्ति के शव का कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

शिशु का अपना सम्बन्ध किसी से नहीं होता, लेकिन शिशु से सब सम्बद्ध होते हैं। शव का भी किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन लावारिस लाश से अनजान लोग भी सम्बद्ध होकर उसके क्रिया-कर्म की व्यवस्था में लग जाते हैं। शव का घर शमशान है, शमशान एक मानसिक भूमिका है, जहाँ हमारी गरिमा, पद, प्रतिष्ठा, डिग्रियों आदि की शान का शमन हो जाता है। शिशु की भी अपनी कोई शान नहीं होती। उसे जो खिला दो, जो पहना दो, उसका घर की किसी परिस्थिति और निर्णयों में कोई हस्तक्षेप नहीं होता। शिशु ने किसी से कुछ लेना-देना नहीं होता। शिशु का शैशव इस प्रकार सह-शव होता है, लेकिन शवत्व का उसे ज्ञान नहीं होता। परम सद्गुरु-कृपा से हम जीवन-काल में शवत्व की मानसिकता को जानकर शीघ्रातिशीघ्र मान लें और उसे धारण कर लें, तो यही मानव-जीवन है।

मध्य की साकार दृश्यमान देह का यही रुटीन है। शैशव और शव के मध्य श्वासों की श्रंखला है। हर श्वास मानो मुझसे जीवन-काल में शवत्व की आस रखती है। शैशव से शव तक की समस्त अवस्थाएँ शैशव का रूपान्तरण हैं। साकार देह की सभी अवस्थाओं एवं परिवर्तनों में शैशव (सह शव) होना आवश्यक है। प्रारम्भारम्भ (Zygote) और अन्तान्त (भस्मी) श्वास रहित है। अतः जन्म-मृत्यु के दोनों छोरों से परे है। श्वास आने के तुरन्त बाद (जन्म) शैशव शुरू हो जाता है और श्वास जाने के तुरन्त बाद शव बन

जाता है। शव बन जाने पर देह की समस्त आन्तरिक क्रियाएँ रुक जाती हैं क्योंकि श्वास नहीं होता।

'असतो मा सद् गमयः
तमसो मा ज्योतिर्गमयः
मत्योर्मा अमृतम् गमयः।''

मानव-देह में शैशवावस्था से होश सम्भालते ही सद्गुरु-कृपा से परम होश में आकर **'मैं'** (जीवात्मा) प्रार्थना करूँ, कि ''हे प्रभु ! मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ। तुमने मुझे जो देह दी है, वह मृत्यु की तरफ जा रही है। यह श्वासों द्वारा शैशव से **'शव'** की ओर जा रही है। जिस दिन श्वास (शव आस) बन्द होगी देह, शव बन जाएगी। मैं देह की तरह मरना नहीं चाहता, मैं अमरत्व चाहता हूँ। मैं जीवात्मा हूँ, मुझे तुम शाश्वतता की ओर ले जाओ। अब मैं ऐसा जन्म जीना चाहता हूँ, जो शवत्व से पुष्ट अर्थात् शाश्वत् बन जाए, ऐसी कृपा करो।'' एक शिशु तो अबोध है, उसे तो इसका ज्ञान ही नहीं है, कि वह सह शव (शैशव) है। तो जैसे ही होश सम्भालें हम यह न भूलें, कि यह देह श्वास (शव आस) की श्रंखला में शैशव (सह शव) से शव तक मात्र मध्य में मिली है। इस पूरे जीवन-काल में शव के समस्त गुणों से हम परिपूरित हों। शैशव की स्थिति के लिए हमें मध्य की साकार देह के दौरान परिपक्व होश में देह व जीवन के दो देहातीत व निराकार छोरों (प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त) का अधिग्रहण करना होगा।

देहान्त **'शव'** है और **भस्मी** शवान्त है। शव, मध्य की देह का अन्त है; इसलिए देहान्त की स्थिति को **'शव'** कहते हैं। भस्मी शवान्त है, इसलिए इसे **अन्तान्त** या **देहान्तान्त** कहते हैं। शव यद्यपि स्वयं किसी देह को नहीं पहचानता लेकिन **'शव'** से देह और उससे सम्बद्ध जगत की पहचान हो सकती है। लेकिन भस्मी; शव का अन्त अथवा **देहान्तान्त** है इसलिए विशेष शव की भस्मी शव विशेष की नहीं होती। भस्मी न शव को पहचानती है न किसी देह को पहचानती है। इस प्रकार देह के शव और भस्मी स्थितियों में

सम्बन्ध होते हुए भी वस्तुतः कुछ सम्बन्ध नहीं है। शव से भस्मी बनने में दो परिवर्तन आए—पहला देहान्त होने पर हाड़-माँस की देह का एक **'शव'** अग्नि द्वारा पंच-महाभूतों में पूर्णतः विलीन हुआ। दूसरे **'शिव'** के वैराग की प्रतिरूप अदृश्य भस्मी प्रकट हुई।

पंच-महाभूतों से समस्त चर-अचर जगत निर्मित, पालित व संहारित होता है। **'भस्मी'** बनने पर काल से बँधी 'देह' का **'शव',** रूप से अरूप और आकार से निराकार होकर नाम-रूप और काल तीनों से परे हो गया। पंच-महाभूतों में विलय होने पर उनमें व्याप्त शिव तत्त्व **'वैराग'** दृश्यमान भस्मी के रूप में प्रकट हो गया। यह भस्मी पंच-महाभूतों से अतीत, **'तत्त्वातीत'** तत्त्व है, जो विभूत्यातीत विभूति, **'वैराग'** का प्रतिनिधि है। सद्गुरु-कृपा से जब उस तत्त्वातीत तत्त्व को **'मैं'** (जीवात्मा) जीवन-काल के किसी वर्तमान में आत्मसात् करूँ, तो वहीं वर्तमान खण्डित हो जाएगा। मैं समय, स्थान एवं स्थिति से परे होकर अपने विशुद्ध अकाल स्वरूप में प्रविष्टि पा लूँगा। मेरी वह **'विदेह'** देह **'मैं'** का अवतरण होगी।

यदि भस्मी है तो मध्य की साकार देह का अन्त, मध्य, प्रारम्भ और प्रारम्भारम्भ सब सुनिश्चित हो जाता है। लेकिन कौन है वह, यह भस्मी द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। **'भस्मी'** जीवन के इन चारों बिन्दुओं प्रारम्भारम्भ (गर्भाधान), आरम्भ (जन्म), मध्य और अन्त (मृत्यु) से सम्बद्ध है, क्योंकि **देह विशेष** की भस्मी है, लेकिन भस्मी का वैशिष्ट्य यह है, कि भस्मी **विशेष देह** की नहीं है। यदि भस्मी बोल पाती, तो यही कहती युगों-युगान्तरों में जो मर चुके हैं उनका मैं **वर्तमान** हूँ, आज जो जीवित हैं, उनका निश्चित, परिलक्षित, दर्शित **भविष्य** हूँ और आज के बाद जो पैदा होंगे, उनका मैं **अतीत** (भूत) हूँ। इसलिए भस्मी देह से मुक्त है। देह से मुक्त है, इसलिए काल से भी मुक्त है और निराकार व अकाल है। मेरी एक देह की भस्मी में इतना विस्तार है, कि युगों-युगान्तरों के भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त देहों से सम्बन्धित है, लेकिन बँधी हुई किसी से नहीं है। इस प्रकार त्रिकाल से सम्बन्धित होते हुए भी अकाल है।

यही मानव-जीवन है। जीव+न, मैं जीव नहीं, विशुद्ध आत्मा हूँ। सद्‌गुरु के सद् निर्देशन में जो कुछ भी होता है, वह हमारे मानव-जीवन के लिए है। जब हमारी बोधता में शैशव की मानसिक स्थिति बन जाए वही शाश्वत् जीवन है। जो **'शव'** का वरण कर ले, वह **'ईश्वर'** है। शव+वास ही विश्वास है, जिसके भीतर शवत्व की निधि है, उस पर ही विश्वास किया जा सकता है। आश्वासन–शव आसन, 'जिसका आसन शव है' वही आश्वासन दे सकता है। शवत्व जाग्रत होने पर ही शिवत्व की अनुभूति हो सकती है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(13 जुलाई, 2008)